अनुराग था। मन सदा विषयके धर्मोंमें ही आसक्त रहता था। और जब विषयसे विराग हुआ तो स्वभावसे ही भगवान्‌की ओर जायगा, उनके करुणा, भक्तवत्सलतादि धर्मोंपर अनुरक्त होगा (यहाँसे भाव-भक्तिका प्रारम्भ हुआ), यथा—*'समुझि समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ।' 'मन मेरे मानै सिख मेरी। जौ निज भगति चहै हरिकेरी॥ उर आनहि प्रभुकृत हित जेते। सेवहिं ते जे अपनपौ चेते॥'* (वि० १२६) इत्यादि।

रा० प्र० श०—*'तब मम धरम उपज अनुरागा'* इति। अर्थात् जैसे पहले संसारी विषयमें अनुराग था वैसा ही अनुराग अब प्रभुमें होगा। वाल्मीकिजीने १४ स्थान प्रभुके निवासके बताये हैं, उनमें इनका मन लगेगा। अर्थात् अब उसकी दशा यह हो जायगी कि (१) *'संत सभा नित सुनहिं पुराना'* (२) *प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं।* (३) *हरिहि निवेदित भोजन करहीं।* (४) *लोचन चातक तिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥ निंदरहिं सिंधु सरित सर भारी। रूपबिंदु जल होहिं सुखारी॥* (५) *प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर तासु लहइ नित नासा॥* (६) *कर नित करहिं रामपद पूजा।* (७) *रामभरोस हृदय नहिं दूजा।* (८) *चरन रामतीरथ चलि जाहीं।* इत्यादि ये ही सब भागवत-भगवद्धर्म हैं।

श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥ ८॥

अर्थ—तदनन्तर श्रवण आदि नवों प्रकारकी भक्तियाँ दृढ़ होंगी तथा मनमें मेरी लीलाओंके प्रति अत्यन्त प्रेम होगा॥ ८॥

पु० रा० कु०—*'श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं'* से श्रीमद्भागवतमें कही हुई नवधा भक्तिका ग्रहण है। यथा—'**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**'(७। ५। २३)

नोट—१(क) श्रवणका अर्थ अपनेसे ही ग्रन्थोंका पठन नहीं है। श्रवण अनुभवी भगवद्भक्तके मुखसे ही करना अभिप्रेत है। '**श्रवणं तु गुरोः पूर्वम्।**' 'श्रवण' शब्द स्वयं कह रहा है कि कहनेवाला दूसरा हो। सब साधनोंमें यह श्रेष्ठ है। प्रपञ्चमें भी श्रवणके बिना कुछ भी विषयज्ञान नहीं हो सकता। श्रवण बिना भाषा बोलनेकी भी शक्ति नहीं मिलती है। फिर परमार्थमें तो श्रवणकी आवश्यकता कितनी है यह कहनेकी भी बात नहीं रह जाती। (प० प० प्र०) नाम, चरित्र और गुणादिके सुननेको 'श्रवण' कहते हैं। नाम-श्रवण, यथा—*'बेगि बिलंब न कीजिये लीजिय उपदेश। बीज मंत्र जपिये सोइ जेहि जपत महेस॥'* चरित्र-श्रवण, यथा—*'लागी सुनै श्रवन मन लायी। आदिहि ते सब कथा सुनायी॥'* गुणश्रवण, यथा—*'सुनत फिरौं हरिगुन अनुबादा। अव्याहत गति संभु प्रसादा॥'* (वि० त्रि०) (ख) 'कीर्तन, नाम, लीला और गुणादिके गानको 'कीर्तन' कहते हैं,। नामकीर्तन, यथा—*'राम नाम महिमा सुर कहहीं। सुनि सुनि अवध लोग सुख लहहीं॥'* लीलाकीर्तन, यथा—*'बरतर कह हरि कथा प्रसंगा। आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥'* गुणकीर्तन, यथा—*'कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ज्ञाना। कतहुँ रामगुन करहिं बखाना॥'* भगवन्नामकीर्तनको नारदीय कीर्तन-पद्धति कहते हैं। गौराङ्ग महाप्रभुने इस पद्धतिका प्रचार-प्रसार किया और उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दिमें श्री १०८ श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद (श्रीरूपकला) जीने बिहार और उत्तर प्रदेशमें इसीका अधिक प्रचार किया। लीला और गुणकीर्तन वैयासकीय कीर्तनपद्धति है। महाराष्ट्रके संत श्रीतुकाराम आदि इसी प्रकारका कीर्तन करते थे। (ग) 'स्मरण'—जिस किसी भाँति मनद्वारा सम्बन्धको 'स्मरण' कहते हैं। यह इतना बड़ा प्रबल साधन है कि इसके प्रभावसे भगवद्विरोधियोंका भी उद्धार हो जाता है, यथा—*'उमा राम मृदुचित करुनाकर। बैरभाव सुमिरत मोहि निसिचर॥ देहिं परमगति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥'* (६। ४४) (वि० त्रि०) वैखरी आदि चारों वाणियोंसे नामका जप 'स्मरण' में आ गया। वैखरीसे जप करनेसे प्राणतत्त्वकी शुद्धि और विशुद्धि चक्रकी जागृति होती है। जबतक प्राणकी शुद्धि न हो जाय तबतक वैखरी जप ही हितावह है। प्राण और मनका साहचर्य है; अतः प्राणकी शुद्धि हुए बिना मानस-जप करनेसे प्राण मनको विक्षिप्त कर देगा। भगवद्भक्तिके इच्छुकको मन्त्रका ग्रहण गुरुसे ही करना चाहिये। (प० प० प्र०) श्रीचक्रजी लिखते हैं—'स्मरण भी दो प्रकारसे होते हैं—एक नाम और दूसरे गुण एवं लीलाका। स्मरण मनका धर्म है, अतः मानसिक-जपको नाम-स्मरण मान सकते हैं।

वाचिक या उपांशु जप एकाग्र मनसे हो तभी वे नाम-स्मरण हैं, अन्यथा जपकी क्रियामात्र ही हैं।' (घ) 'पादसेवन'—चरणोंकी पूजा-सेवा। कुछ भक्त ऐसे हैं, जो केवल चरणोंका ही ध्यान-चिन्तन-पूजन किया करते हैं, यथा—*'कर नित करहिं रामपद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा॥'* (२। १२९) *'आगे परा गीधपति देखा। सुमिरत रामचरन जिन्ह रेखा॥'* (३। ३०) *'नित पूजत प्रभु पाँवरी'*.........।' (२। ३२५) (वि० त्रि०)। (प्रज्ञानानन्द स्वामीका मत है कि यहाँ सद्गुरुकी सेवा ही प्रधान है। ज्ञानेश्वरी गीता अ० १३ में आचार्योपासनापर टीका देखिये।) (पर कुछ सन्त कहते हैं कि श्लोकमें **'विष्णोः'** शब्द स्पष्ट आया है, अतः सभी भक्तियाँ भगवान्‌के प्रति ही करनेकी बात है, गुरु या अन्य किसीके प्रति नहीं।) (ङ) *'अर्चन'*—शुद्धि न्यासादि पूर्वाङ्गोंके निर्वाहपूर्वक उपचारोंद्वारा मन्त्रोंसे पूजनको 'अर्चन' कहते हैं। यथा—*'तब मुनि हृदय धीर धरि, गहि पद बारहिं बार। निज आश्रम प्रभु आनि करि पूजा बिबिध प्रकार॥'* (वि० त्रि०) गुरु, इष्टदेवता आदिकी मानस-पूजा तथा ब्राह्म-पूजा *'यथा बिभव बिस्तार'* से करे **'वित्तशाठ्यं न कुर्यात्।'** *'कर नित करहिं रामपद पूजा', 'पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा।'* (प० प० प्र०) (च) *'वन्दन'*=नमन भक्ति, दण्डवत् प्रणाम। नमनसे लीनता मिलती है। यह नमन भी भगवद्भावनासे ही करना चाहिये—'...............**हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः।**'(भा० ११। २। ४१) यह एक ही साधन भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये पर्याप्त है, **'दण्डवते'** स्वामीका चरित्र इसका साक्षी है। (प० प० प्र०) अक्रूरजी वन्दनभक्तिके उदाहरण हैं। (छ) 'दास्य' भावकी भक्तिके ज्वलन्त उदाहरण श्रीहनुमान्‌जी हैं। *'रामकाज कीन्हे बिना मोहिं कहाँ बिश्राम'* यह भाव सदा अचल बना रहे। (प० प० प्र०) मैं प्रभुका किंकर हूँ, इस अभिमानको 'दास्य' कहते हैं। यथा—*'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।' 'सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥'* (२। २४) *'आजु रामसेवक जसु लेऊँ।'* (२। २३०) इत्यादि। (ज) 'सख्य' के दो भेद हैं। विश्वास और मित्रवृत्ति। विश्वास, यथा—*'है तुलसीके एक गुन अवगुन निधि कह लोग। एक भरोसो रावरो राम-रीझिबे जोग॥'* मित्रवृत्ति यथा—*'तुलसी कही है साँची रेख बार बार खाँची, ढील किये नाममहिमाकी नाव बोरिहौं'* (विनय)।

श्रीचक्रजी—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन और वन्दन ये छः साधन भक्ति हैं। इनका आचरण करनेसे साध्य-भक्ति, प्रेमरूपा भक्तिका हृदयमें प्रादुर्भाव होता है। दास्यभाव साध्य भी है और साधन भी। दास्य सार्वभौम भाव है। वह व्यक्तिकी प्रत्येक दशा, भक्तिके प्रत्येक अंशमें व्यापक है। सख्य और आत्मनिवेदनमें भी आराध्यके प्रति सेवाका भाव रहता है। उपासनाके द्वारा जब चित्त निर्मल हो जाता है, वासनाएँ सर्वथा दूर हो जाती हैं तब प्रभुसे अत्यन्त समीपता आत्मीयताका भाव जाग्रत् होता है, 'वे अपने हैं' यह अनुभूति होने लगती है—यही सख्य भाव है।

प० प० प्र०—'आत्मनिवेदन' (आत्मसमर्पण) तीन प्रकारका है। एक 'जड़ आत्मनिवेदन', दूसरा 'चंचल आत्मनिवेदन' और तीसरा 'निश्चल आत्मनिवेदन'। पहलेमें केवल दृश्य जड़ पदार्थ ही भगवान्‌को 'यह भगवान्‌का ही है' समझकर समर्पण किये जाते हैं। दूसरेमें यह भाव रहता है कि 'मेरा यहाँ कुछ नहीं है, सब कुछ भगवान्‌का ही है, ऐसा नाता भगवान्‌से जोड़ना 'चंचल आत्मनिवेदन' है। **'जीवो नाहं देशिकोक्त्या शिवोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सः अहम् अस्मि'** इस रीतिसे जीवभावको भी त्यागकर अपरोक्षसाक्षात्काररूढ़ हो जाना ही 'निश्चल आत्मनिवेदन' है। यही व्यतिरेक ज्ञान है। '**आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहम्**'(मु० उप०) यह श्रीहनुमान्‌जीका वचन इस निश्चय आत्मनिवेदनका दर्शक है। *'तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निर्मूल न जाई। तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय तरिय नहिं भाई॥'* (वि० ११२) में भी इसीका निर्देश है। [मानसपीयूष-बालकाण्डमें नवधाभक्तिका विस्तृत उल्लेख कई बार आ चुका है। वैष्णवोंमें भगवत्-शरणागतिके समयके श्लोक ये हैं—'**योऽहं ममास्ति यत्किञ्चित् इह लोके परत्र च। तत्सर्वं भवतोरेव चरणेषु समर्पितम्॥**' **मां मदीयं च निखिलं चेतनाचेतनात्मकम्। स्वकैङ्कर्योपकरणं वरद स्वीकुरु स्वयम्।**' इनमें देही-देह सभीका समर्पण है।

वि० त्रि०—१ 'आत्मा' शब्दके पण्डितोंने दो अर्थ माने हैं—एक तो अहन्तास्पद देही, दूसरा ममतास्पद

देह। इन दोनोंका निवेदन 'आत्मनिवेदन' है। देहीनिवेदन, यथा—*'मैं अब जन्म संभुहित हारा। को गुन दूषन करइ बिचारा॥'* देहनिवेदन यथा—*'हृदय-घाउ मेरे पीर रघुबीरैं। पाइ सजीवन जागि कहत यौं प्रेम पुलकि बिसराय सरीरैं। मोहि कहा बूझत पुनि पुनि जैसे पाठ अरथ चरचा कीरैं॥ सोभा सुख छति लाभ भूप कहँ, केवल कान्ति मोल हीरैं। उपमा रामलखनकी प्रीतिकी क्यों दीजै खीरैं नीरैं॥'* (गी०)

श्रीचक्रजी—आत्मनिवेदन अर्थात् माधुर्यभाव तो भक्तिकी चरमसीमा है। अपना कुछ नहीं रहा, सब कुछ प्रभुके चरणोंमें विसर्जित हो गया और उनको छोड़कर दूसरेकी सत्ता भी शेष नहीं रही। *'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं'* यह सर्वोत्तम पतिव्रताकी स्थिति प्राप्त हो गयी—यही आत्मनिवेदन है। ☞ यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि सख्य या आत्मनिवेदनके भाव किये नहीं जाते। जब भी इन्हें किया जायगा, केवल दम्भ होगा और दम्भका फल तो पतन—नरक है। ये भाव तो जब स्वयं प्रकट हों, तब आते हैं। जहाँतक करनेकी बात है—केवल दास्यभाव किया जाता है—करणीय है। जीव परमात्माका दास है, यह परम सत्य है। अतः स्वयंको सेवक मानकर भजन करना चाहिये।

वि० त्रि०—२ (क) *'दृढ़ाहीं'*—भाव यह है कि श्रवणादिक नवभक्तियोंका कर्तव्यरूपसे शास्त्रोंमें वर्णन है। अतः इनकी गिनती साधनभक्तिमें है। साधक इनका आचरण स्वधर्मानुष्ठान समझकर करता आ रहा था, परन्तु अनुरागके बिना वे दृढ़मूलक नहीं हो पाती थीं। अब सरकारके धर्मोंमें अनुराग उत्पन्न हो जानेसे वह दृढ़मूलक हो गयी। (ख) *'मम लीला रति'*—लीलाका अर्थ चरित्र है। भगवान् आप्तकाम हैं, अतः किसी प्रयोजनका उद्देश्य रखकर उनकी प्रवृत्ति नहीं होती, उनका चरित्र उनकी लीला है। परन्तु उनके चरित्रका कथन और श्रवणका उपयोग नवधाभक्तिके कीर्तन और श्रवण-प्रकरणमें कहा जा चुका है। अतः यहाँपर लीलासे उनके चरित्रके अनुकरणसे तात्पर्य है, यथा—*'खेलहुँ तहाँ बालकन मीला। करउ सकल रघुनायक लीला॥'* श्रीमद्भागवतमें भी प्रेमाधिक्यसे गोपियोंद्वारा भगवान्‌के चरित्रके अनुकरणका वर्णन है, यथा—**'लीला भगवतस्तास्ता ह्यनु चक्रुस्तदात्मिकाः।'** अतः यहाँ ममलीलाका अर्थ हुआ रामलीला।

श्रीचक्रजी—पूर्व जो कहा था कि *'तब मम धर्म उपज अनुरागा'* वह 'मम धर्म' ये 'श्रवनादिक नव भक्ति' हैं। ये दृढ़ कैसे होंगी? यह पहले ही बता आये कि विप्रचरणमें अति प्रीति और अपने-अपने वर्णाश्रम धर्मके अनुसार आचरण करनेसे *'मम धर्म'* में प्रेम उत्पन्न होगा। अब यहाँ बताते हैं कि वह प्रेम दृढ़ कब होगा—जब भगवान्‌के अवतारकी कथामें अत्यन्त रति अर्थात् लगन हो। लीला-श्रवण, लीला-चिन्तन तथा लीलानुराग ही भक्तिको दृढ़ करनेके साधन हैं।

टिप्पणी—१ *'मम लीला रति अति मन माहीं'* यहाँसे लेकर *'बचन कर्म मन मोरि गति'*.....' इस दोहे-पर्यन्त वही भक्ति है जो श्रीरामजीने शबरीजीसे कही है। दोनों प्रकारकी भक्तियोंका साधन विप्रचरणानुराग और धर्मसहित व्यवहार करते रहना है। इन्हींसे दोनों प्रकारकी भक्तियाँ उत्पन्न और दृढ़ होती हैं।

टिप्पणी—२ इस प्रसंगमें अत्यन्त प्रेम करना कहा। (क) *'प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती।'* (ख) *'मम लीला रति अति मन माहीं।'* (ग) *'संतचरनपंकज अति प्रेमा।'* भाव यह है कि प्रीति तो सभीमें होना आवश्यक है, पर इन तीनोंमें अर्थात् विप्रचरण, मम लीला और संतचरणमें तो अतिशय प्रेम होना चाहिये। इसी प्रकार तीनमें दृढ़ होना कहा। (क) *'श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं'* (ख) *'मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।'* (ग) *'सब मोहिं कहँ जानै दृढ़ सेवा।'* इस कथनका तात्पर्य यह है कि भक्ति,भजनका नियम और सेवा—ये दृढ़ नहीं रह पाते, कुछ दिनोंमें शिथिल हो जाते हैं; अतएव इनको शिथिल न पड़ने देना चाहिये। इनमें दृढ़ रहना चाहिये।

टिप्पणी—३ श्रीशबरीजीको भी नवधा भक्ति कही गयी है। दोनोंका मिलान यहाँ दिया जाता है।

शबरीजीके प्रति	लक्ष्मणजीके प्रति
१ *प्रथम भगति संतन्ह कर संगा*	*संतचरनपंकज अति प्रेमा।*
२ *दूसरि रति मम कथा प्रसंगा*	*मम लीला रति अति मन माहीं॥*

३ *गुरपद पंकज सेवा तीसरि भक्ति अमान*	*गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा॥*
४ *चौथि भगति मम गुनगन करै कपट तजि गान*	*ममगुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥*
५ *मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा*	*मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा*
६ *छठ दमसील बिरति बहुकर्मा*	
७ *सातवँ सम मोहिमय जग देखा*	*काम आदि मद दंभ न जाके।*
(इसके दोनों अर्थोंका ग्रहण हुआ)	*गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मो कहँ जानै दृढ़ सेवा॥* (यहाँ उपलक्षण है)
८ *आठवँ जथा लाभ संतोषा*	
९ *नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥*	*भजन करै निहकाम (बिनु संतोष न काम नसाहीं) बचन करम मन मोरि गति*

टिप्पणी—४ *'मम लीला रति अति मन माहीं'* इति। लीलामें अत्यन्त प्रेम होनेसे प्रभुके करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य, सौशील्य आदि गुणोंका ठौर-ठौरपर दर्शन और स्मरण होगा। लीलासे ही ज्ञात होगा कि प्रभु संतोंके लिये ही अवतार लेते हैं, यथा—*'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरेउँ देह नहिं आन निहोरे।' 'नरहरि प्रगट किये प्रहलादा।'* अतः जब चरितमें अनुराग हुआ तब संतचरणमें प्रीति हुई। *'बिनु सतसंग न हरिकथा',* कथाके सुननेसे, सत्संग करनेसे भजनमें दृढ़ नेम हुआ।

प० प० प्र०—(क) मम लीलासे सगुण ब्रह्मके चरित्र ही अभिप्रेत हैं। लीला=हेतु-रहित चरित्र। भगवान् आद्यशङ्कराचार्यको भी ज्ञानोत्तरा भक्ति मान्य है, यह उनके नृसिंहतापिनीभाष्य तथा प्रबोधसुधाकर आदि ग्रन्थोंसे स्पष्ट है। (ख) *'अति रति'* क्योंकि बिना प्रेमके भक्ति दृढ़ न होगी। जब भगवल्लीला श्रवण करनेकी, देखनेकी, उसमें सहकारी होनेकी अतिशय प्रीति होगी तब नवधाभक्ति सिद्ध होगी। तथापि प्रेमसे भगवल्लीला सुनानेवाला निर्हेतुक वक्ता सन्तोंके अतिरिक्त दूसरा कोई भी नहीं है, इसीसे आगे कहते हैं—*'संत चरन पंकज अति प्रेमा'।*

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥ ९॥

अर्थ—सन्तोंके चरणकमलोंमें अति प्रेम हो। मन, कर्म और वचनसे भजनका पक्का नियम हो॥ ९॥

प० प० प्र०—*'संत चरन पंकज..........'* इति। (क) पंकज शब्द भावगर्भित है। कमलका जन्म पंक (कीचड़) में होता है। वह पानीमें ही रहता है, पानीसे ही जीता है और पानीमें ही बढ़ता है तथापि वह पंक और जलसे निर्लिप्त रहता है। वैसे ही सन्त भी मायारूपी देहमें जगत्में जन्म लेकर मायिक अन्नादिसे ही जीते हैं तथापि वे माया और मायाजनित प्रपञ्चसे सदा अलिप्त रहते हैं। जैसे कमल सुगन्ध मकरंद आदि देता है वैसे ही संत भी संगतिमें आनेवालेको 'सुरुचि, सुबास, सरस अनुराग' देते हैं। मानस मुखबन्दमें *'अरथ अनूप सुभाव सुभासा।'* को *'पराग मकरंद सुबासा।'* कहा गया है। भगवल्लीलाओंके विविध अर्थ तथा लीला-चरित्रके शब्दों और वाक्योंके भाव सन्त ही जानते हैं। सन्तोंमें जब अत्यन्त प्रेम होगा तब वे उसके कुछ ध्वनित भाव कहेंगे जिससे श्रोताको *'सुरुचिरूपी सुगंध'* प्राप्त होगी। बिना सन्तोंकी सङ्गतिके सगुण परमात्माकी लीलामें प्रेम न होगा और न परमात्मामें। गरुड़जीने जब भुशुण्डिजीसे चरित सुना तब *'रामचरन नूतन रति'* हुई। (ख) 'चरण' में 'अति प्रेम' का भाव कि उनकी अत्यन्त प्रेमसे सेवा करे। जब वे देख लेंगे कि यह अति आर्त्त है, श्रीरामभक्ति—श्रीरामचरितश्रवणका अधिकारी है तब *'गूढ़ौ तत्व न साधु दुरावहिं',* वे कहेंगे। (ग) संतचरणमें अत्यन्त प्रेम करनेको इससे भी कहा कि संत श्रीभक्तिके कोठारी हैं। वे भगवत्प्रेममय होते हैं, भगवान्में उनका निःस्वार्थ प्रेम होता है। वे भगवान्को शिशुबालकके समान प्रिय होते हैं। अपने बालकपर अत्यन्त प्रेम करनेवालेपर उस बालकके माता-पिता सहज ही प्रसन्न हो जाते हैं। इसी तरह भगवान् जब देखते हैं कि यह मेरे बालक (संत भक्त)में

निःस्वार्थ अत्यन्त प्रेम करता है तब ही संतोंको निमित्त करके उसे अपनी प्रेमभक्ति प्राप्त कर देते हैं। (घ) सिद्धान्तरूपसे *'मिलइ जो सन्त होइ अनुकूला'* से उपक्रम किया। फिर चार चौपाइयोंमें उपपत्तिरूपसे संतोंकी अनुकूलताकी प्राप्तिके साधन बताये। और *'संतचरन पंकज'*......' पर उपसंहार किया।

श्रीचक्रजी—*'संतचरन'*.........' इति। आराध्यकी अपेक्षा भी संतका अधिक आदर करना भक्तका आदर्श है; क्योंकि संतकृपासे ही भक्ति प्राप्त हुई और सत्सङ्गसे ही भजनमें रुचि बढ़ती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि *'संतचरन पंकज अति प्रेमा'* होनेके कारण संतको ही आराध्य मान ले। संत मार्ग-दर्शक है, प्रकाशदाता है, किन्तु वही लक्ष्य नहीं है। संतके चरणोंमें प्रेम होनेसे संतके द्वारा भगवान्‌के भजनकी प्रेरणा मिलेगी, यदि वह सचमुच संत है। लेकिन भजन तो करना ही पड़ेगा। सब कुछ संत अपनी कृपासे कर देगा—इस भावसे बड़ा कोई धोखा नहीं है। इसीलिये भगवान् आगे कहते हैं—*'मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।'*

वि० त्रि०—१ *'संतचरन पंकज अति प्रेमा।'* इति। जब लीलाद्वारा साधक प्रत्यक्ष देखता है कि संतोंके परित्राणके लिये ही प्रभु अवतार धारण करते हैं, संतोंके मिलनकी उत्कट इच्छाके सामने उन्हें राजतिलक फीका ही मालूम पड़ता है और वनवास श्रेयस्कर प्रतीत होता है, जब लीलामें प्रभुको संतचरणमें अवनत होते देखते हैं, तब संतचरणपङ्कजमें अतिप्रेमका न होना आश्चर्य है। जब श्रीमुखसे संतोंकी स्तुति सुनते हैं, तब उनके प्रति साधकका अत्यन्त अनुराग बढ़ जाता है। यथा—*'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उनके बस रहऊँ॥'* इत्यादि। (३। ४५। ६) से *'कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते।'* (४६। ८) तक। परन्तु ऐसे संत महात्माकी पहिचान अत्यन्त कठिन है। बिना संतोंके संसार चल नहीं सकता। वे सबको सब देशोंमें सुलभ हैं, परन्तु विषयी जीवको उनकी पहिचान नहीं। अतएव उनकी प्राप्ति नहीं होती। उनकी प्राप्तिके लिये पुण्यपुञ्ज चाहिये, भगवान्‌की कृपा चाहिये। सो साधक उसीके लिये यत्नशील है। यथा—*'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता।'*.........', *'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥'* भगवान् भाववश्य है, इसलिये भावभक्ति करनेवालेपर हरिकृपा होती है—उन्हें संत मिलते हैं और उनसे उनको भक्तिचिन्तामणिकी प्राप्ति होती है। यथा—*'भावबस्य भगवान सुखनिधान करुनाअयन। तजि ईर्षा मदमान, भजिय सदा सीतारमन॥'*

वि० त्रि०-२—*'मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा'*—भाव यह है कि पहिले श्रवणादिक नव भक्ति दृढ़ हुई थीं। अब संतोंके प्रसादसे मनसा, वाचा, कर्मणा दृढ़ नियमके साथ भजन आरम्भ हुआ। रामभक्तिके बाधकोंकी ओरसे वृत्ति फिर गयी, यथा—*'जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाय॥'* *'मन क्रम बचन रामपद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥'* अब साधक महात्मापदको प्राप्त हुआ। जो मनमें हो, वही वाणीमें हो, वही कर्ममें हो, यह महात्माका लक्षण है। मनमें दूसरी बात हो, वाणीसे कोई दूसरी बात कहे और कर्म उन दोनोंसे पृथक् ही कुछ करे, यह दुरात्माका लक्षण है—**'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्। मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥'** वाणीसे भजन करना और मन दूसरी ओर रहे, अथवा कर्मसे भजन करना, वाणीसे कुछ दूसरी बातें करते रहना तथा मनसे अन्य विषयोंका ध्यान करते रहना यथार्थ भजन नहीं है। मनमें भी भगवान् हों, वाणीसे उनकी स्तुति हो, कर्मसे उनकी परिचर्या होती रहे, तब उस भजनको मन-वचन-कर्मसे भजन कहेंगे। दूसरी बात यह है कि भोजनकी भाँति भजन हित है, अतः इसे नित्य नियमके साथ प्रीतिपूर्वक करना चाहिये, अन्यथा भजनका ठीक प्रभाव नहीं पड़ता। यथा—*'भोजन करिअ तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी॥ असि हरिभगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥'* (७। ११८)

श्रीचक्रजी—उत्तम भजन वह है जो मनसे हो। मन वशमें नहीं है, स्मरण-चिन्तन आदिमें नहीं लगता तो कर्मसे दृढ़ नियम बनाकर भजन करना चाहिये। घरमें अर्चनके लिये द्रव्य नहीं, तीर्थाटनकी सुविधा नहीं, जीवन-निर्वाह एवं परिवार-पोषणके कामोंसे समय ही नहीं मिलता कि अर्चा करे, कथा सुने। ऐसी अवस्थामें वाणीसे दृढ़ नियमपूर्वक भजन करना चाहिये। जप और कीर्तन इसके अन्तर्गत है। केवल जीभसे निरन्तर नाम-जप होता रहे, यह अभ्यास हो जाना चाहिये। इस प्रकार प्रभुने 'मन-क्रम-वचन' में एक

क्रम बतलाया। तीनोंसे भजन करना चाहिये यह तो मुख्य है ही।

प० प० प्र०—१ विप्रभक्ति, स्वकर्मभक्ति, भागवत-धर्मभक्ति, श्रवणादि भक्ति, भगवल्लीलाभक्ति और गुरु-संत-भक्ति ये छः प्रकारके साधन जब दृढ़ हो जायँगे तब संत-कृपासे प्रेमलक्षणारूपी रसस्वरूपा भक्तिकी प्राप्ति होगी। '**रसो वै सः**', '***हरिपदरति रस बेद बखाना'।*** इस मुख्य कृपासाध्य भक्तिका ही विवरण आगेकी छः अर्धालियोंमें किया जाता है। इस भक्तिके साथ सात सोपान पूरे हो जाते हैं।

प० प० प्र०-२ '***मन क्रम बचन भजन*** ……' इति। (क) आगे दोहेमें '***बचन कर्म मन***' ऐसा अनुक्रम है। यहाँ '***मन क्रम बचन***' रखा; क्योंकि—(१) वचन और भजनमें यमकानुप्रास मिलता है। (२) '**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**', '**मनःकृतं कृतं लोके न शरीरकृतं कृतम्**।'(श्रुति और गरुड़पुराण), मन ही बन्धमोक्षका कारण है। '***रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की॥***' इससे भी मनको प्रथम रखा। और यदि कर्म भी मनकी भावनाके अनुकूल हो तब तो विशेष आनन्दकी बात है। (३) वचनसे भी हृदयके भाव प्रकट होते हैं। स्मरण और प्रियभाषण प्रेमके चिह्न हैं। अतएव मनको प्रथम और वचनको अन्तमें रख दिया। दोहेमें 'वचन' को आदिमें और 'मन' को अन्तमें रखनेका भाव यह है कि कर्म बीचका है। '**आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा**' इस न्यायसे वचन और मन दोनोंकी जहाँ भक्ति होगी वहाँ कृतिकी इतनी महत्ता नहीं है। साथ ही 'म' का अनुप्रास भी साधना है और द्विरुक्तिसे बचना भी हेतु है। (ख) 'मनसे भजन'—मानसपूजा, ध्यान, मानसजप, भगवद्गुण, रूप, यशादिका चिन्तन इत्यादि मनका भजन है। यथा—'***आम छाँह कर मानस पूजा***', '***पीपर तरु तर ध्यान सो धरई***', '***सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥***' '***तुम्ह सन सहज सनेह।***' (ग) बाह्य पूजा, संत-गुरु-परिवार-पूजन, तीर्थयात्रा, दान, यज्ञ आदि 'कर्म' का भजन है। '***प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा।***' से '***सकल भाय सेवहि सनमानी***' तक (२। १२९। १—८) विशेष करके कर्म-भजनका ही वर्णन है। (घ) वैखरीसे जप, गुण-लीला-नाम-कीर्तन, स्तुति, स्तोत्रपाठ, भगवच्चर्चा आदि वचनका भजन है। (ङ) '***भजन दृढ़ नेमा***' इति। भजन करते समय प्रापञ्चिक कार्योंको भूल जाना, '***भजिय राम सब काज बिसारी।***' स्वप्नमें भी भजन होने लगे, अन्य विषय स्वप्नमें भी न आवें। भजनका त्याग करनेकी इच्छा होनेपर भी वह न छूटे तब जानना चाहिये कि भजन दृढ़ हो गया। (च) '***दृढ़ नेमा***' का भाव कि नियमित अवसरपर नियमसे आमरणान्त भजन करता ही रहे।

गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥ १०॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥ ११॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥ १२॥

शब्दार्थ—पति=स्वामी। यथा—'***अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥***' '***सेवत सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥***'

अर्थ—गुरु, पिता, माता, भाई, स्वामी और देवता सब मुझको ही जानकर सेवामें दृढ़ हो॥ १०॥ मेरे गुण गाते हुए शरीरमें रोमाञ्च हो, वाणी गद्गद हो जाय, नेत्रोंसे जल (आँसू) बहे॥ ११॥ काम आदि मद और दम्भ जिसमें नहीं हैं, हे तात! मैं सदा उसके वशमें रहता हूँ॥ १२॥

टिप्पणी—१ '***गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि*** ……' इति।—अर्थात् रामजी ही सब कुछ हैं, यथा—'***तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥***' (२। ७४) '***गुर पितु मातु न जानौं काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतियाहू॥ जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई। मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥***' (२। ७२)

वि० त्रि०—१ '***गुर पितु मातु*** ……' इति। (क) गुरु-पिता-माताके लिये स्वयं श्रुति कहती है—'**मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।**' ये ही तीनों देव हैं। ये तीन ही अग्नि हैं। इन्हींकी सेवासे लोक

बनता है। इनकी आज्ञा पालनमें यदि बुरे रास्तेपर चलना पड़े तो भी अकल्याण नहीं होता। यथा—*'गुर पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहुँ कुमग पग परहि न खालें॥'* (२। ३१५) (ख) *'बंधु पति देवा'*—बन्धु वे ही हैं जो आड़े समय काम आते हैं। यथा—*'होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाये॥'* पतिका अर्थ स्वामी है, जिसका सब भाँति छल छोड़कर सेवाका विधान है। यथा—*'भानु पीठि सेइअ उर आगी। स्वामिहि सर्बभाव छल त्यागी॥'* (४। २३) देवता इष्टफल देनेवाले हैं। यथा—**'इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥'** यहाँपर छःको गिनाया है, और भी जितने प्रेमके पात्र हैं, उन सबको भी साथ ही समझ लेना चाहिये। (ग) *'सब मोहि कहँ जानै'*—भाव यह है कि सबकी ओरसे ममता हटाकर श्रीरामजीसे प्रीति करे। श्रीरामजीको ही माता-पिता, गुरु, बन्धु, स्वामी और देवता माने। अर्थात् माहात्म्य-ज्ञानयुक्त*, सुदृढ़ और सबसे अधिक स्नेह हो। यथा—कवित्तरामायण—*'राम, मातु पितु बंधु सुजन गुरु पूज्य परमहित। साहेब सखा सहाय नेहनाते पुनीतचित॥ देस कोस कुल कर्म धर्म धन धाम धरनि गति। जाति पाँति सब भाँति लागि रामहि हमारि पति। परमारथ स्वारथ सुजस सुलभ रामते सकल फल। कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक रामते मोर भल॥'* (७। ११०) *'राम हैं मातु पिता गुरु बंधु औ संगी सखा सुत स्वामि सनेही।'* (क० ७। ३६) (ग) *'दृढ़सेवा'*—अर्थात् जिस साधकको सेवा दृढ़ हो गयी है। भाव यह है कि जिसके लिये ऊपर लिख आये हैं कि *'मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।'* वही दृढ़ सेवावाला भक्त सब नाता (सम्बन्ध) रामजीसे जोड़नेमें समर्थ हो सकता है। [रा० प्र० कारने भी यही अर्थ किया है। दृढ़ सेवा—दृढ़ है सेवा-जिसकी। *'मोहि कहँ जानै'* अर्थात् गुरु-माता-पिता-बन्धु आदि सबोंमें हमारी भावना करे, इससे पराभक्ति होगी जिसकी दशा आगे कहते हैं। (प्र०) ऐसी भावना करनेसे भी *'सबकी ममता ताग'* प्रभुकी ममतामें परिणत हो जायगी।]

प० प० प्र०—१ (क) यहाँ गुरु, पिता, माता इत्यादिका त्याग करनेकी बात नहीं है। श्रीमुखवचन है *'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥'* (५। ४८)—इससे अर्धालीका भाव स्पष्ट हो जाता है। (ख) *'दृढ़ सेवा'*—दृढ़ भजन-भक्ति। ऊपर *'भजन दृढ़ नेमा'* से उपक्रम, यहाँ 'दृढ़ सेवा (भजन)' से अभ्यास और आगे दोहेमें *'भजन करहिं निष्काम'* से उपसंहार किया है। यह भक्तिका प्रकरण है।

श्रीचक्रजी—गुरु-पितु-मातु आदि पूज्यवर्ग हैं। इनको आराध्यका ही रूप समझे, इनकी सेवा-पूजा भी आराध्यकी पूजा समझकर करे, किन्तु प्रेम भगवान्से ही करे। जहाँ आराध्यके प्रेम एवं सेवामें इनके द्वारा बाधा पड़ती हो वहाँ ये लौकिक सम्बन्ध त्याज्य हो जायँगे।

वि० त्रि०—२(क) *'मम गुन गावत'*—भाव यह है कि तब उस भक्तकी श्रीहरिमें अविच्छिन्न मनोगति हो जाती है। उन्हींका गुण बारबार गान किया करता है। उन्हींकी मूर्तिका ध्यान किया करता है, दूसरी कोई बात उसे अच्छी नहीं लगती। श्रीहरिको भी भक्तोंका गान परम प्रिय है। उन्हींका वचन है कि **'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥'** इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि वह गान सुर-तालसे भी ठीक हो। यह अभिप्राय होता तो कहते **'गायका यत्र गायन्ति'**, पर ऐसा नहीं कहते। अतः भक्तोंका गान उन्हें प्रिय है, चाहे वह संगीतकी दृष्टिसे कैसा ही हो। (ख) *'पुलक सरीरा गदगद गिरा नयन बह नीरा'* इति। शरीरमें रोमाञ्च होना, गला भर आना, आँखोंसे आँसूकी धारा चलना, ये सब प्रेममें डूबाडूब होनेके लक्षण हैं। यहाँपर भक्तोंके गानके प्रिय होनेका कारण कहते हैं। भक्त प्रेममें डूबाडूब है, वह प्रेमसे मग्न होकर गान करता है, उसे लय, सुर, तानका पता नहीं। श्रीहरि ऐसे ही गानपर रीझ जाते हैं। भीतरके प्रेमके बाहरी लक्षण, पुलक-शरीर, गद्गद-गिरा और नयन-नीर हैं।

प० प० प्र०—२ *'पुलक सरीरा गदगद गिरा, नयन बह नीरा।'* पुलक आदि ये तीनों भक्ति, प्रेमके

---

* 'माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया सार्ष्ट्यादि नान्यथा॥'

सात्त्विक अनुभाव हैं। सात्त्विक भाव आठ हैं। यथा—'**ते स्तम्भः स्वेदः रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः। वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः॥**'

☞ अब देखना चाहिये कि ये विविध भाव कैसे उत्पन्न होते हैं। श्रीरूपगोस्वामीजी '**भक्तिरसामृतसिन्धु**' में लिखते हैं '**चित्तं सत्त्वीभवत् प्राणे न्यस्यत्यात्मानमद्भुतम्। प्राणस्तु विक्रियां गच्छन् देहं विक्षोभयत्यलम्॥ तदा स्तम्भादयो भावा भक्तदेहे भवन्त्यमी।**' '**चत्वारि क्ष्मादिभूतानि प्राणो जात्ववलम्बते। कदाचित् स्वप्रधानः सन् देहे चरति सर्वतः॥ स्तम्भं भूमिस्थितः प्राणस्तनोत्यश्रु जलाश्रयः। तेजस्थः स्वेदवैवर्ण्यं प्रलयं वियदाश्रितः॥ स्वस्थ एकः क्रमान्मन्दमध्यतीव्रत्वभेदभाक्। रोमाञ्चकम्पवैस्वर्याण्यत्र त्रीणि तनोत्यसौ॥**' (१—३) अर्थात् जब चित्त सत्त्वगुणीभूत होकर जोरसे प्राणमें प्रवेश करता है तब प्राण विकारी होकर देहमें बहुत क्षोभ उत्पन्न करता है। उस समय स्तम्भ,स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, कंप, विवर्णता, अश्रु और प्रलय—ये आठ भाव शरीरमें प्रतीत होते हैं। अब किस कारणसे कौन-सा भाव पैदा होता है यह भी जानना उचित है। जब पृथ्वीतत्त्व (मूलाधार) में प्राण प्रवेश करता है तब देह स्तम्भ (खम्भे) के समान अचल, स्थिर, जड़-सी हो जाती है (*'रहि गए कहत न खाटी मीठी'*)। जब जलतत्त्वका (स्वाधिष्ठान)आश्रय करता है तब नयन-नीर (अश्रुपात), जब तेजतत्त्वमें (मणिपूर) प्रवेश करता है तब स्वेद (पसीना) और शरीर निस्तेज-विवर्ण हो जाता है (वैवर्ण्य)—*'बिबरन भयउ निपट नरपालू'*। जब वह कुपित प्राण अपने स्थानमें (अनाहत) ही बैठता है तब मन्द, मध्यम और तीव्र भेदसे रोमाञ्च, (पुलक सरीरा), कंप (शरीरका काँपना), *'कंप, पुलक तन, नयन सनीरा।'* (२। ७०। २) और स्वरभङ्ग (*'गदगद गिरा न कछु कहि जाई'*); जब आकाश-तत्त्वमें (विशुद्धि) प्रवेश करता है तब प्रलय तन्द्रा, निद्रा, मूर्च्छा।

श्रीचक्रजी—भगवान् यहाँ आठों सात्त्विक भावोंकी बात नहीं कह रहे हैं। *'मम गुन गावत'* को ही बात कह रहे हैं और बता रहे हैं कि जिसके हृदयमें प्रेम है, उसका शरीर गुणगान करते समय रोमाञ्चित हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है और अश्रुप्रवाह चलने लगता है।

प० प० प्र०—३(क) *'काम आदि मद दंभ न जाके'* इति। काम आदि=काम-क्रोध-लोभ। यहाँ यद्यपि केवल पाँच ही विकारोंका निर्देश किया है तथापि तदनुषङ्गिक सभी मानस-विकारोंका ग्रहण करना उचित है, यथा—*'तजि मद मोह कपट छल नाना।'* (सुं० ४८। ३) *'समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हर्ष सोक भय नहिं मन माहीं॥ दंभ मान मद करहिं न काऊ।'* (सुं० ४८। ६) *'राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहु इन्हके बस होहू॥ सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥'* (अ० ७५। ५-६) *'तृन सम विषय स्वर्ग अपबर्गा'*, *'बैर न बिग्रह आस न त्रासा'* इत्यादि अज्ञान, द्वैतजनित सब विकार जिसमें नहीं है। (ख) *'तात निरंतर बस मैं ताके'* इति। मैं सदा सर्वकाल इसके अधीन ही रहता हूँ। यथा—*'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी'*, *'धरउँ देह नहिं आन निहोरे'*, *'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसहि धन जैसे॥'* (सुं० ४८। ७) *'मैं इन्ह के बस रहऊँ।'* (४५। ६)

वि० त्रि०—३(क) *'काम आदि मद दंभ न जाके'*—काम, लोभ, मद, दम्भ आदि दुरभिसन्धि हैं। जो किसी कामनासे गान करता हो वह भले ही अर्थार्थी भक्त हो, पर प्रेमाभक्ति उसे नहीं है। जो मदसे गान करता हो कि मैं सङ्गीतशास्त्रका आचार्य हूँ अथवा मुझसे गानेवाले दुर्लभ हैं, उसे भी भगवद्गुणगानका कुछ फल तो होता ही है, पर प्रेमाभक्तिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। अथवा जो लोभसे गान करता है; कि गान करनेसे मुझे कुछ मिलेगा या जो दम्भसे गान करता है कि लोग मुझे भक्त कहेंगे, उनका गान वैसा नहीं (चाहे वह कितना ही लय, सुर और तानसे ठीक हो) जो भगवान्‌को रिझा सके। अतः गान सभी दुरभिसन्धियोंसे रहित होना चाहिये। यथा—*'प्रेम भगति बिनु सुनु खगराई। अभ्यंतर मल कबहुँ कि जाई॥'* [ऊपर जो-जो कर्म कहे गये हैं वे सब कामादिद्वारा भी होते हैं। दम्भसे अश्रु बहाने, गद्गद-स्वर हो जाने, रोमाञ्चित होनेकी बात तो दूर रही, मूर्छांतकका अभिनय लोग करते हैं। नाटक और सिनेमामें जैसे अभिनेता अश्रु आदि दिखा लेते हैं, वैसे ही लोग कथा-कीर्तनमें भी अश्रु बहाते हैं, गद्गदस्वर बना लेते हैं, रोमाञ्च या कंप दिखलाते हैं। दम्भ न भी हो तो भी मद हो जाता है। (चक्रजी)] (ग) '**तात**'—प्रश्न

है *'मोहिं समुझाइ कहौ सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा'* और उत्तर हो रहा है—*'तात निरंतर बस मैं ताके'*। यहाँ भी उत्तर प्रश्नसे कहीं अधिक विशेषता रखता है, इसलिये फिर *'तात'* सम्बोधन देते हैं। (घ) *'निरंतर बस मैं ताके'*—श्रीमद्भागवतमें दुर्वासाजीसे स्वयं भगवान्‌ने कहा है कि 'हे ब्राह्मण! मैं भक्तके पराधीन हूँ, एक प्रकारसे परतन्त्र ही हूँ—'**अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।**'(९। ४। ६३) सो भगवान् ऐसे ही भक्तके पराधीन (वशमें) रहते है। यथा—पाञ्चरात्रमें—'**मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता। अभिसन्धिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशङ्करी॥**' श्रीहरिमें अविच्छिन्न और अभिसन्धिरहति, प्रेमपरिप्लुता मनोगतिका होना, ऐसी भक्ति है जो हरिके वशमें रखती है।

टिप्पणी—१ (क) *'मम गुन गावत'''''* यथा—*'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। नाम जीह जप लोचन नीरू॥'* (भरत) सबके अन्तमें गुणगानको कहनेका अभिप्राय यह है कि भागवतमें लिखा है कि तबतक धर्म करे जबतक हमारी कथामें प्रीति न हो।—(खर्रा) (ख) *'काम आदि मद दंभ न जाके।'* इति। ये सब कथाके बाधक हैं, यथा—*'क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥'* *'अति खल जे बिषई बक कागा। एहि सर निकट न जाहिं अभागा॥'* *'तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥'* इनके रहते हुए भगवान् कभी हृदयमें नहीं बसते। यथा—*'हरि निर्मल मल ग्रसित हृदय असमंजस मोहि जनावत। जेहिं सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत॥'* (वि० १८५) *'करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि कहि कहि सबहिं सिखावौं।'''''* (वि० १४२) (ग) *'तात निरंतर बस मैं ताके'*, यथा—'**नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥**'

दो०—बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्हके हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम॥ १६॥
भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥ १॥
एहि बिधि गए कछुक दिन बीती। कहत बिराग ग्यान गुन नीती॥ २॥

अर्थ—जिनको वचन, कर्म और मनसे मेरी ही गति है और जो कामनारहित होकर मेरा भजन करते हैं, उनके हृदयकमलमें मैं सदा विश्राम करता हूँ॥ १६॥ भक्तियोग सुनकर लक्ष्मणजीने अत्यन्त सुख पाया और प्रभुके चरणोंमें माथा नवाया॥ १॥ इस प्रकार वैराग्य, ज्ञान, गुण और नीति कहते हुए कुछ दिन बीत गये॥ २॥

प० प० प्र०—१ *'बचन कर्म मन मोरि गति'*। जो वाणीसे, कर्मसे और मनसे भी एक श्रीभगवान्‌के सिवा दूसरे किसीकी भी आशा नहीं रखते हैं। दुःख होनेपर किसीके पास नहीं जाते कि यह हमारा दुःख दूर करो। न मुखसे दूसरे किसीकी सहायता चाहते हैं, न मनमें ऐसा लाते हैं। उनके लिये एक भगवान्‌के सिवा अन्य रक्षक, पोषक हितकारक, सुखदायक, दुःख-भय-शोकनिवारक इत्यादि विश्वमें कोई भी है, ऐसा जिनके मनमें भी नहीं आता है वे अनन्यगति हैं। जिसके मनमें योग-यज्ञ-जप-तपादि किसी साधनकी आशा नहीं है कि मैं अमुक साधन करके दुःख-शोक-भयादिसे छुटकारा पा जाऊँ। *'एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥'* *'मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं॥ नहिं सत्संग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥'* ये हैं सुतीक्ष्णजीके वचन जिनके सम्बन्धमें भगवान् शंकरजी कहते हैं—*'नाम सुतीछन रति भगवाना। मन क्रम बचन रामपद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥'* इसका नाम है 'अनन्यगति'। एक भगवान्‌का भरोसा छोड़कर, साधन, वस्तु, व्यक्ति, देवी, देवता, कुटुम्बी, सम्बन्धी इत्यादि किसीके भी भरोसेपर न रहना ही है 'अनन्य गति'। *'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥'* ऐसे अनन्य भक्तोंको मोक्षकी भी इच्छा नहीं होती है—*'मुकुति निरादरि भगति लोभाने'*। बस वे एक ही बात जानते हैं कि भजन करना ही अपना कर्तव्य है। कोई

कामना भी जिनके चित्तमें नहीं है, ऐसे भक्तोंके हृदयमें ही भगवान् विश्राम करते हैं!!

श्रीचक्रजी—पहिले *'मन क्रम बचन भजन'* प्रभुने बताया था। वहाँ भजन करनेकी बात थी; अतः **मन**, क्रम तथा वाणी यह क्रम बतलाया गया था। अब यहाँ वचन, कर्म तथा मनका क्रम बतला रहे हैं। वाणीकी गति भगवान्‌में ही हो अर्थात् भगवान्‌के नाम, गुण तथा लीलाका ही वर्णन वाणी करे। कर्मकी गति भगवान्‌में हो; अर्थात् जितने भी कर्म किये जायँ सब भगवत्प्रीतिके लिये ही किये जायँ और मनकी गति भगवान्‌में हो; अर्थात् मनसे भगवान्‌के ही रूप, गुण तथा लीलाओंका चिन्तन हो।

मन, वाणी और कर्म तीनोंकी गति भगवान्‌में ही हो; भगवान्‌को छोड़ अपने लिये जीवनमें कुछ न बचा हो, न बोलना, न करना और न सोचना। जीवन भगवन्मय हो, भगवान्‌के लिये ही हो। शरीर, मन और वाणी एक यन्त्रके समान हो चुका हो जो कि प्रभुके लिये ही प्रयुक्त हो और सर्वथा निष्काम भावसे हो। लोक, परलोक और मोक्षतककी कामना नहीं हो, भजन भजनके लिये ही हो। जहाँ भजनको छोड़कर न कुछ बोलना अच्छा लगता है, न करना और न सोचना ही, ऐसी स्थितिके भक्तके ही हृदय-कमलमें प्रभु विश्राम करते हैं।

प० प० प्र०—*'करौं सदा बिश्राम'* इति। शंका—ईश्वर तो *'सबके हृदय निरंतर बासी'* हैं ही यथा—'**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**' (गीता १८। ६१) तब भक्तिसे विशेष क्या लाभ? समाधान—(१) ईश्वर सर्वभूत-हृदय-निवासी हैं यह बात सत्य है। तथापि उन हृदयोंमें वे अप्रकटरूपसे ही रहते हैं। इससे अनुभवमें नहीं आते हैं। '**दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः**', (वेद-स्तुति)। अर्थात्—'मणि गलेमें ही रख दी है, यह भूल जानेसे त्रैलोक्यमें खोजनेपर भी वह नहीं मिलती है। है तो बिलकुल पास ही। यही बात बालकाण्डमें कही गयी है, यथा—*'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥' 'सत चेतन घन आनँद रासी। अस प्रभुहृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'* (बा० २३। ६-७) इसीसे इस दोहेमें *'बास करउँ'* ऐसा न कहकर *'करउँ बिश्राम'* कहा। भाव यह कि ऐसे भक्तोंके हृदयमें ही भगवान्‌को विश्राम मिलता है। अन्य लोगोंके हृदय काम-क्रोधादि मलोंसे भरे हुए हैं। पुनः (२) विश्रामका भाव कि अन्य सब जीव '**पुत्रान् देहि, धनं देहि, यशो देहि, द्विषो जहि**' ऐसी बातें सुनाते ही रहते हैं। तब भगवान्‌को विश्राम कहाँ। 'सब जीव प्रभुको प्रिय हैं'। *'सब मम प्रिय सब मम उपजाए' हैं, 'सब पर पितहि प्रीति सम होई'* तथापि वे आपसमें डाह, वैर, विग्रह, झगड़े करते हैं। किस पिताको विश्राम मिलेगा उस घरमें जिसमें उसके सभी पुत्र आपसमें निरन्तर झगड़ते हों!! इस दोहेमें 'निवास', या 'वास' शब्द कवि लिख देते तो कितना अनर्थ हो जाता! धन्य है कविकी जागरूकता और पूर्वापर अखण्ड समन्वय पद्धति!! अयोध्याकाण्ड वाल्मीकि-सम्भाषणमें ही इसी भावसे, मंदिर, शुभसदन, निज गेह, सदन सुखदायक, शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

टिप्पणी—१ (क) *'करौं सदा बिश्राम'*। इन शब्दोंसे इसे निज गृह सूचित किया, यथा—*'जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह। मन मंदिर तिन्हके बसहु सो राउर निज गेह॥'* (ख) ज्ञानका फल मोक्ष है और भक्तिका फल उरमें भगवान्‌का वास है, यह *'बचन कर्म मन मोरि गति'*' ।'*'करौं सदा बिश्राम'* इस वाक्यमें परिपुष्ट सिद्धान्त कहा। (ग) सबके अन्तमें हृदयकमलमें विश्राम करना कहा। कारण कि *'सब साधन को एक फल जेहि जानेउ सोइ जान। ज्यों त्यों मन मंदिर बसहिं राम धरे धनुबान॥'*(दोहावली ९०)

श्रीचक्रजी—यहाँ श्रीकौसल्यानन्दवर्धन स्वयं अपने लिये *'करउँ सदा बिश्राम'* कहते हैं। अर्थात् उस निष्काम भक्तके हृदयमें तो ये नवजलधर सुन्दर सगुण साकाररूपसे विश्राम करते हैं। देवर्षि नारदका भी ऐसा ही अनुभव है। यथा—'**प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः। आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि॥**'(भा० १। ६। ३४) देवर्षिजी व्यासजीसे कहते हैं—'जब मैं उन प्रियश्रवण (जिनके गुण सुननेमें बहुत प्यारे लगते हैं), तीर्थचरण (जिनके श्रीचरण ही सबको परम पवित्र करनेवाले हैं) का गुणगान करने लगता हूँ तो अपने गुण-पराक्रमका गान होते ही झटपट वे मेरे हृदयमें प्रकट होकर इस प्रकार दर्शन देने लगते हैं, जैसे उन्हें बुलाया गया हो।

वि० त्रि०—१ (क) *'बचन कर्म मन मोरि गति'* जिन्हें मनसा, वाचा, कर्मणा श्रीरामकी ही गति है—दूसरा चारा नहीं, वे ही जागते-सोते भगवान्‌की शरणमें रहते हैं। दूसरेसे बोलना भी पड़ा तो सत्य, प्रिय और विचारकर हितकी बात बोलते हैं। उन्हें दुःख, सुख, प्रशंसा और गाली समान होती है, वे सबके हितकारी और प्रिय होते हैं। यथा—*'सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥ कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥ तुम्हहिं छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥'* (२। १३०) (ख)—*'भजन करहिं निष्काम'*। वे ही भक्त निष्काम-भजन कर सकते हैं, जिन्हें न तो परमार्थकी कामना है और न जो गूढ़गति जानना चाहते हैं। न उन्हें अणिमादिक सिद्धियाँ चाहिये और न किसी संगसे विनिर्मुक्ति। यथा—*'सकल कामना हीन जे, रामभगति रसलीन। नाम सुप्रेम पियूषहृद, तिनहु किये मन मीन॥'* (ग) *'तिन्हके हृदयकमल महुँ'*—भाव यह है कि उन्हींके हृदयकी शोभा है, इसीसे कमलकी उपमा दी है। वही हृदय ऐसा है, जहाँ भगवान् सगुणरूपमें रहते हैं। निर्गुणरूपसे तो उनका निवास सभी हृदयोंमें है। (घ) *'करहुँ सदा बिश्राम'*—जिनके हृदयमें कुछ और भी कामनाएँ हैं उनके हृदयमें सगुणरूपसे प्रकट होनेपर भी श्रीहरि विश्राम नहीं करने पाते। उनकी रुचि रखनेके लिये उन्हें सतत चञ्चल रहना पड़ता है। यथा—*'राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुराण संत सब साखी॥'* पर प्रेमाभक्तिवाले निष्काम भजन करते हैं, अतः भगवान्‌को विश्राम उन्हींके हृदयमें मिलता है। इस प्रेमाभक्तिके भी श्रीवाल्मीकिजीने चौदह भेद कहे हैं। यथा—(१) *'जिन्हके श्रवन समुद्र समाना।'''''''''''तिन्हके हिय तुम्ह कहुँ गृहरूरे॥'* (२। १२८। ४-५) (२) *'लोचन चातक जिन्ह करि राखे।''''''''''तिन्हके हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥'*(२। १२८। ६—८) (३) *'जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु। मुकुताहल गुनगन चुनइ राम बसहु हिय तासु॥'*(१२८) (४) *'प्रभुप्रसाद सुचि सुभग सुवासा। राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥'* (२। १२९। १—५) (५) *'मन्त्रराज नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहिं सहहि परिवारा॥''''सबु करि मागहिं एक फलु रामचरन रति होउ। तिन्हके मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥'* (१२९) (६) *'काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥ जिन्हके कपट दम्भ नहिं माया। तिन्हके हृदय बसहु रघुराया॥'*(२। १३०। १-२) (७) *'सबके प्रिय सबके हितकारी।''''''''तुम्हहिं छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहुँ तिन्हके मन माहीं॥'* (२। १३०। ३—५) (८) *'जननीसम जानहिं परनारी।''''जिन्हहिं राम तुम्ह प्रान पियारे। तिन्ह के मन सुभसदन तुम्हारे॥'* (२। १३०। ६—८) (९) *'स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिन्हके सब तुम्ह तात। मनमंदिर तिन्हके बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥'* (१३०) (१०) *'अवगुन तजि सबके गुन गहहीं।''''घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका॥'*(२। १३१। १-२) (११) *'गुन तुम्हार समुझहिं निज दोसा।''''''''''तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥'* (२। १३१। ३-४) (१२) *'जातिपाँति धन धरम बड़ाई।''''''तेहिके हृदय रहहु रघुराई॥'*(२। १३१। ५-६) (१३) *'सरगु नरकु अपरबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनुबाना॥ करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहिके उर डेरा॥'* (२। १३१। ७-८) (१४) *'जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह। बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेह॥'* (१३१)

नोट—पं० श्रीकान्तशरणजीने श्रीरामगीताके इस चरम वाक्यका मिलान गीताके चरमवाक्य—'**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥**' (१८। ६५-६६) से इस प्रकार किया है कि 'उत्तरकाण्ड (दो० १०३) में सबके हृदयमें नित्य चारों युगोंकी वृत्तियोंका होना कहा गया है। तदनुसार सत्ययुगकी शुद्ध सत्त्वमय वृत्तिमें भगवान्‌में मन रखे, यह '**मन्मना भव**' का अर्थ है। त्रेताकी वृत्तिमें थोड़े रजोगुणके संसर्गसे जब कुछ चपलता आवे, तब देवताओंको मेरे शरीररूपमें जानते हुए यज्ञरूप मेरी भक्ति करे; यह '**मद्भक्तः**' का अर्थ है। द्वापरकी वृत्तिरक्षाके लिये *'मद्याजी'* अर्थात् मेरी पूजा कर यह कहा है और फिर कलियुगकी वृत्तिरक्षाके लिये '**मां नमस्कुरु**' यह कहा है। अर्थात् चारों युगोंकी वृत्तियोंके उपायरूप मैं ही हूँ। इस श्लोकका भाव यहाँ *'बचन करम मन मोरि गति'* में कहा गया।''''''**'सर्वधर्मान्'''''**' इस

श्लोकके पूर्वार्धका भाव यहाँके *'भजन करहिं निष्काम'* की अनन्यतामें आ गया। श्लोकके उत्तरार्धका भाव *'तिन्हके हृदय'* ''''' में कहा गया कि शेष आयुभोगमें कोई शोच न रहेगा।'

☞ दोनों वाक्योंका मिलान श्लोकके शब्दोंका अर्थ जान लेनेसे सरलतासे हो जाता है। **मन्मना भव**=मुझमें मनवाला हो अर्थात् जिस-तिस प्रकारसे हो मन मुझमें ही लगा रहे, अन्यत्र न जाय। यही बात *'मन मोरि गति'* से कही गयी है।

मद्भक्तो भव=मेरा भक्त हो। भजन करनेवाला भक्त कहलाता है। यही बात *'भजन करहिं'* से कही गयी। निष्काममें 'मत' का भाव आ गया। मेरे सिवा भक्तिमें दूसरी कामना न हो। **मद्याजी**=मेरा यजन (पूजन आदि) करनेवाला हो। पूजन आदि कर्म हैं। यह बात *'करम मोरि गति'* से कही गयी है।

मां नमस्कुरु=मुझको ही नमस्कार कर। 'नमस्कार' में कर्म और वचन दोनोंका समावेश है। वचनसे '**नमामि**' आदि कहा जाता ही है। यही बात *'बचन मोरि गति'* से कही गयी।

मामेवैष्यसि=तू मुझको प्राप्त होगा। यह बात *'तिन्हके हृदयकमल महँ करउँ सदा बिश्राम'* में आ गयी। सदा हृदयमें सगुणरूपसे निवास करना भगवत्-प्राप्ति ही है।

'**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**'=सब धर्मोंका परित्याग करके मुझ एककी शरण आ जा। यही भाव *'गुरु पितु मातु बंधुपति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥'* (१६। १०) के साथ-साथ *'करम बचन मन मोरि गति'* में आ गया। ऐसा सज्जन भगवान्‌को प्रिय है, यथा—*'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥'''अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धनु जैसे॥ तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे।'* (५। ४८) गीताके पूर्व श्लोकके '**सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे**' का भाव इसमें आ गया।

'**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।**'=मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू शोक मत कर। यह भाव *'करम बचन मन मोरि गति'* ''''' इसमें ही आ गया। जिसके हृदयमें श्रीरामजी धनुषबाण लिये बसते हैं उसके निकट काम-क्रोधादि जो पापके मूल हैं आ ही नहीं सकते, यथा—*'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटि भाथा॥'* (५। ४७) और जिसे मन-कर्म-वचनसे प्रभुकी ही गति है उसे कभी विपत्ति नहीं आ सकती, यथा—*'बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही॥ कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥'*(५। ३२। २, ३)। अतः इसमें '**मा शुचः**' का भाव है।

वि० त्रि०—*'भक्तिके साधन कहहुँ बखानी'* से लेकर *'तिन्हके हृदय कमल महँ करउँ सदा बिश्राम'* तक भक्तियोग है। यह सब योगोंमें उत्तम है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है—'**योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥**'(गीता ६। ४७) अर्थात् सभी योगियोंमें, मुझमें मन लगाकर श्रद्धापूर्वक, जो मेरा भजन करता है वह सबसे बड़ा योगी है।

प० प० प्र०—१(क) 'भक्तियोग ही आत्मा और परमात्माका सच्चा शाश्वत योग कर देता है। कारण—*जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभपदादपि परत हम देखत हरी'* (वेदस्तुति ७। १३) *'भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥'*, *'भजन हीन सुख कवने काजा'* (७। ८४) इन उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है। भक्तको प्रभुका ही बल रहता है, प्रभु ही उसके सब आवश्यक कार्य कर देते हैं। अतः भक्तियोग सुलभ और सुखद है। यथा—*'जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आहीं॥'* '**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥**' (गीता० ७। १४) '**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्॥**'(गीता० १२। ७) '**श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य**' '**ज्ञाने प्रयासमुदपास्य**' '**अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय**'''''''' इत्यादि (भाग० १०। १४। ४, ३, २९) ब्रह्मस्तुतिके श्लोक अवश्य अवलोकन करनेयोग्य हैं। (ख) *'भक्ति योग सुनि अति सुख पावा।'* कथनका सारांश यह है कि जो अति सुख चाहते हो तो निरन्तर भक्तियोगका श्रवण संतमुखसे करते रहो। सम्पूर्ण मानस तो

भक्तियोगसे ही भरा है यथा—*'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥'* इस छोटेसे अरण्यकाण्डमें भक्तिरस यत्र-तत्र सर्वत्र ही परिपूर्ण है।

टिप्पणी—२ *'भगति जोग'*...... ' इति। (क) भाव कि ज्ञान, वैराग्य और माया, ईश्वरजीवभेद (वा कर्मयोग और ज्ञानयोग) सुनकर भी सुख हुआ, पर भक्तियोग सुननेसे *'अति'* सुख प्राप्त हुआ। पुनः भक्ति सुखदाई है, उससे शीघ्र प्रभु द्रवीभूत होते हैं, अतः इससे अत्यन्त सुख हुआ। अथवा, प्रभुमुखकी वाणी सुननेसे सकल भ्रमकी हानि होती है। अतः भक्तियोगके अभ्रान्त ज्ञानसे परमसुखकी प्राप्ति हुई। (वि० त्रि०) इससे यह भी सूचित किया कि जब श्रवणमात्रसे ही अतिशय सुख होता है तो भक्ति प्राप्त होनेसे अपार अनन्त परम अगाध सुख होगा इसमें आश्चर्य ही क्या? (प० प० प्र०)। श्रीलक्ष्मणजीने कहा था कि *'सकल कहौ समुझाइ। जाते होइ चरनरति॥'* श्रीरामजीने ज्ञानको सूक्ष्म रीतिसे कहकर ज्ञान और भक्तिका भेद कहते हुए भक्तिको विस्तारसे कहा, क्योंकि इस भेदको जान लेनेसे प्रभुके चरणोंमें अविच्छिन्न अनुराग होता है, और इस रहस्यको जान लेनेसे फिर मोह आदि नहीं होते। यथा—*'यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोइ। जो जानइ रघुपति कृपा सपनेहु मोह न होइ॥ औरौ ज्ञान भगति कर भेद सुनहु सुप्रबीन। जो सुनि होइ रामपद प्रीति सदा अविछीन॥'* (७। ११६) अतः *'भगति जोग सुनि अति सुख पावा।'* (ख) *'सिर नावा'*—उपदेशके अनन्तर प्रणाम पुनः करना श्रुति-स्मृति-सन्त सबका सिद्धान्त है। यह कृतज्ञता सूचित करता है। यथा—*'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। तव पद बंदउँ बारहि बारा॥'* (ग) *'सब तजि करौं चरन रज सेवा'* उपक्रम है और *'प्रभु चरनन्हि सिरु नावा'* उपसंहार।

प० प० प्र०—इस प्रकरणका उपक्रम *'एक बार प्रभु सुख आसीना'* से हुआ और उपसंहार भी *'अति सुख'* और *'प्रभु'* शब्दोंसे ही किया गया है—*'अति सुख पावा। प्रभु चरनन्ह'*.......... '। इस तरह उपक्रमोपसंहारसे ही जना दिया कि जहाँ प्रभु हैं वहीं सुख है। बीचमें *'सचराचर स्वामी'*, *'प्रभु'*, *'देवा'*, और *'प्रभु'* इस प्रकार चार बार आवृत्ति भी हो गयी। (मानस गूढ़ार्थचन्द्रिका अप्रकाशित)

टिप्पणी—३(क) *'एहि बिधि गए कछुक दिन बीती'* इति। भाव कि अन्यत्र महीना या वर्ष-का-वर्ष बीता यहाँ कुछ ही दिन बीते क्योंकि अब वनवासके दिन थोड़े ही रह गये हैं। [(ख) *'एहि बिधि'* अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी सेवक-भावसे कुछ पूछते और श्रीरामजी समझाते, इस प्रकार। (प० प० प्र०)] (ग) *'कहत बिराग ज्ञान गुन नीती'*, यथा—*'कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥'*—(वैराग्य), *'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥'*—(ज्ञान), *'एक रचै जग गुन बस जाके'*, *'तृनसम सिद्धि तीनि गुन त्यागी'*—(गुण), *'निज निज कर्म निरत श्रुतिनीती'*—(नीति)। (घ) [भक्तिको कहकर फिर कुछ न कहा। वैराग्यका स्वरूप पातञ्जलिशास्त्रमें, ज्ञानका सांख्यमें, गुण भागवतोंके और राजनीति कही। नीतिपर समाप्ति की क्योंकि आगे शूर्पणखाके नाक-कान काटना है। (खर्रा)]

प० प० प्र०—*'कहत बिराग'*...... ' इति। (क) इसमें भक्ति नहीं है। कारण कि भक्तिका विस्तृत विवेचन 'श्रीरामगीता' में श्रवण कर चुके हैं। वहाँ ज्ञान, वैराग्य और मायाका विवेचन संक्षिप्तरूपमें ही सुना था, अतः उनके सम्बन्धमें कुछ शंकाओंका उठना स्वाभाविक था। इसीसे उनको पूछा गया और भगवान् राम उत्तर देते गये। (ख) *'गुन'* शब्दसे जनाया कि 'गुण' का अर्थ, गुणोंकी संख्या, जीवके ऊपर गुणोंके परिणाम, गुण कब और किसको बंधनकारक होते हैं, इत्यादि सब कहे गये। (ग) *'नीति'* शब्दसे धर्मनीति, राजनीति, वैयक्तिक नीति, सामाजिक नीति, राष्ट्रीय नीति इत्यादिकी चर्चा तथा कब किस नीतिको महत्त्व देना चाहिये इत्यादि विवेचन सूचित कर दिया।

यहाँ 'पुनि लछिमन उपदेश अनूपा' अर्थात् श्रीरामगीता-भक्तियोग प्रकरण समाप्त हुआ।

अरण्यकाण्ड पूर्वार्ध समाप्त हुआ।

(श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु)

श्रीरूपकलादेव्यै नमः श्रीहनुमते नमः श्रीहनुमते नमः

श्रीरूपकलादेव्यै नमः . श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः

अरण्यकाण्ड-उत्तरार्ध

'सूपनखा जिमि कीन्हि कुरूपा' प्रकरण

सूपनखा रावन कै बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी॥ ३॥
पंचवटी सो गइ एक बारा। देखि बिकल भइ जुगल कुमारा॥ ४॥
भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥ ५॥
होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी॥ ६॥

शब्दार्थ—**'दारुन'** (दारुण)=कठिन, क्रूर, क्रोधी स्वभाववाली।

अर्थ—नागिनकी-सी कठिन दुष्टहृदयवाली शूर्पणखा जो रावणकी बहिन थी, वह एक बार पंचवटीमें गयी और दोनों राजकुमारोंको देखकर व्याकुल हो गयी॥ ३-४॥ (भुशुण्डिजी कहते हैं—) हे सर्पोंके शत्रु गरुड़जी! भाई, पिता, पुत्र कोई भी सुन्दर पुरुष हो उसे स्त्री देखते ही व्याकुल हो जाती है, मनको नहीं रोक सकती जैसे सूर्यकान्तमणि सूर्यको देखकर तेजको प्रवाहित करती है (यद्यपि सूर्यको सूर्यकान्तमणिके होनेतकका पता नहीं है)॥ ५-६॥

शूर्पणखा—कुबेरने अपने पिताको प्रसन्न करनेके लिये परम सुन्दरी तीन राक्षस-कन्याओं—पुष्पोत्कटा, राका और मालिनीको उनकी सेवामें नियुक्त कर दिया। इनकी सेवासे प्रसन्न होकर महात्मा विश्रवाने प्रत्येकको लोकपालोंके सदृश पराक्रमी पुत्र होनेका वरदान दिया। पुष्पोत्कटासे रावण और कुम्भकर्ण, मालिनीसे विभीषण और राकासे खर और शूर्पणखा हुए। इस प्रकार शूर्पणखा रावणकी बहिन है। (महाभारत वनपर्व अ० २७५ के अनुसार यह कथा है। वाल्मीकीय (७। ९) के अनुसार रावण, कुम्भकर्ण, शूर्पणखा और विभीषण चारों कैकसीकी संताने थीं। पर यह मत मानसका नहीं है। विशेष (१। १७६ १—५) मानस-पीयूष भाग २ देखिये)। इसका विवाह कालखञ्जवंशी मायावी राक्षस विद्युज्जिह्वसे हुआ था; रावणने उसको मार डाला। शूर्पणखाके विलाप करनेपर उसने खर-दूषण-त्रिशिरा और १४ हजार बलवान् राक्षसोंकी सेना देकर जनस्थानमें इसे रखा। इसके नख सूपके समान थे, अतः शूर्पणखा नाम पड़ा। खरदूषण भी इसके भाई हैं। यह स्वयं बलवती और स्वच्छन्दचारिणी थी।—**'अहं प्रभावसम्पन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी।'**(वाल्मी० ३। १७। २५) अर्थात् मैं अपने स्वाधीन बलसे सर्वत्र विचरण करती हूँ—यह उसने स्वयं श्रीरामजीसे कहा है।

नोट—१ यहाँ दुष्टहृदय और दारुणके लिये नागिनकी उपमा बड़ी उत्तम है। वह भयङ्कर होती ही है पर साथ ही ऐसी दारुणहृदया है कि अपने ही अण्डों-बच्चोंको खा जाती है। वैसे ही यह सारे निशाचरवंशके नाशका कारण होगी।

नोट—२ **'रावणकी बहिन'** कहकर वैधव्य जनाया। दूसरे, रावण जगत्प्रसिद्ध है इससे उसका नाम दिया। [पुनः, रावणकी बहिन कहकर उसे बड़ी क्रूर, व्यभिचारिणी, परपुरुषरता, राक्षसी, विशाल देहवाली और रावणके समान जनाया। ***'दुष्ट हृदय'*** अर्थात् जिसका हृदय कामविकार तथा अधर्मसे दूषित हो गया है। यथा—**'प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः' 'स्त्रीषु दुष्टासु''''वर्णसंकरः'** (गीता १। ४१) ***'अहिनी'*** से डाहशील, दूर रखनेयोग्य, क्रूर, चपल इत्यादि जनाया। (प० प० प्र०)]

नोट—३ ***'सूपनखा रावन कै बहिनी'***। यह प्रसंग **'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः'** का उदाहरण है। जो पुरुष परायी स्त्रीसे अनुचित प्रेम करता है, वह उस स्त्रीके पतिके परोक्षमें करता है। उसका एक कारण यह भी है कि पति भड़ुआ नहीं है तो उसकी मरम्मत करेगा। इसी तरह जो स्त्री किसी दूसरी स्त्रीके

पतिसे प्रेम करती है वह भी उस दूसरी स्त्रीके सामने नहीं करती। शूर्पणखाकी ऐसी मति भङ्ग हो गयी कि उसने श्रीसीताजीके सामने अपना प्रेम प्रकट किया। इस बातको कालिदासने रघुवंशमें स्पष्टरूपसे लिखा है। [गोस्वामीजीने भी श्रीसीताजीकी उपस्थिति *'तब खिसिआनि राम पहिं गई। रूप भयंकर प्रगटत भई॥ सीतहि सभय देखि रघुराई।'* इन चरणोंमें जना दी है।] रघुवंशके उस अंशका अनुवाद यह है—*'प्रथम बरनि निज कुल कहि नामा। सिय सम्मुखहि बर्यो तिन रामा॥ बढ़त काम तरुनी मन माहीं। समय कुसमय निहारत नाहीं॥'*—इतनी निर्लज्जता! ऐसी मति मारी गयी। श्रीजीने उसकी निर्लज्जतापर मुस्कुरा दिया। इसपर वह राक्षसी तो थी ही, उनको धमकाने लगी कि मैं तुमको खा जाऊँगी इत्यादि। यहीं राक्षसविनाशका सूत्रपात हुआ।

---नोट—४ *'पंचवटी सो गइ एक बारा'* इति।—पञ्चवटी कैसे गयी यह अ० रा० में लिखा है कि एक दिन पञ्चवटीके पास गौतमी नदीके तीरपर श्रीरामजीके कमल, वज्र और अंकुशकी रेखाओंसे युक्त चरणचिह्नोंको देखकर वह उनके सौन्दर्यसे मोहित होकर कामासक्त हुई। उन्हें देखती-देखती धीरे-धीरे रघुनाथजीके आश्रममें चली आयी। यथा—'**एकदा गौतमीतीरे पञ्चवट्याः समीपतः। पद्मवज्राङ्कुशाङ्कानि पदानि जगतीपतेः॥ दृष्ट्वा कामपरीतात्मा पादसौन्दर्यमोहिता। पश्यन्ती सा शनैरायाद्राघवस्य निवेशनम्॥**' (अ० रा० ३। ५। २-३) अथवा अब निशाचरोंके नाशवाली लीलाका समय आ गया, अतः कालकी प्रेरणासे इस समय आयी। अ० दी० कार कहते हैं कि 'क्या कारण था कि शूर्पणखा स्त्रीजाति होकर एक बार अकेली पञ्चवटीमें गयी? और उसका उत्तर देते हैं कि शूर्पणखाका विवाह होनेके छठे ही दिन उसके पुत्र हुआ। विद्युज्जिह्वको मार डालनेके बाद रावणने उसके पुत्रको जनस्थानमें लोहेके एक पिंजड़ेमें बंदकर कैदी बनाकर रखा था। एक बार फूल-फल लेनेके लिये लक्ष्मणजी उधर जा निकले थे। उन्हें देखकर वह राक्षस हँसा तब लक्ष्मणजीने उसे अग्निबाणसे भस्म कर दिया। नारदने यह समाचार शूर्पणखाको दिया तब वह क्रोधित होकर प्रभुके निकट आयी (पर यहाँ आते ही वह तो दोनोंपर आसक्त हो गयी। पुत्रवधको उसने शकुन माना। न पुत्रवध होता न इधर आती। पर यह कथा कहाँसे ली गयी यह नहीं मालूम है)। (अ० दी० च०)

टिप्पणी—१ *'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा'* यहाँ कहा और आगे कहते हैं कि *'रुचिर रूप धरि'''''।''* इससे अनुमान होता है कि उसने दोनों भाइयोंको देखा पर इन्होंने उसे नहीं देखा; क्योंकि यदि देख लेते तो रूप बनाते न बनता। *'युगल'* का एक भाव यह भी है कि एकके स्त्री है, वह न ब्याहेगा तो दूसरा तो अवश्य ब्याह लेगा (इससे कुलटा व्यभिचारिणी भी होना जनाया)। [*'देखि बिकल भइ'* अर्थात् कामातुरा हो गयी, यथा—'**दृष्ट्वा राक्षसी काममोहिता**', '**राक्षसी मदनार्दिताः**', '**कामपाशावपाशिताम्**' (वाल्मी० ३। १७। ९, ३। १७। २१, ३। १८। १) लक्ष्मणजीसे भी उसने कहा है कि तुम्हारे इस रूपके योग्य मैं ही तुम्हारी सुन्दरी स्त्री हो सकती हूँ। यथा—'**अस्य रूपस्य ते युक्ता भार्याहं वरवर्णिनी**।'(वाल्मी० ३। १८। ७)]

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—१ *'देखि बिकल'''''* इति। (क) शुद्ध हृदयवाली स्त्री कभी ऐसी विकल नहीं होती। इससे 'दुष्ट हृदयत्व' जनाया। (ख) *'कुमारा'*—यह शब्द कविने प्रयुक्त करके इससे 'कुमार-अवस्थावाला' यह अर्थ सूचित किया। *'देखत बालक बहु कालीना'* होनेसे ही सनकादि चारों भाइयोंको भी 'सनत्-कुमार' कहते हैं। श्रीरामलक्ष्मणादिका शरीर, रूपादि सदैव कुमारावस्थाका-सा रहता है, इसीसे तो इन सबोंकी मूर्तियाँ 'श्मश्रुविहीन' (दाढ़ीमूँछरहित) होती हैं। यहाँ 'कुमार' शब्दके प्रयोगमें जो हेतु है वह चौ० ११ से सम्बन्ध है।

टिप्पणी—२ *'भ्राता पिता पुत्र उरगारी'* इति। (क) *'उरगारी'* सम्बोधनका भाव कि आपका सर्प ही भोजन है तब तो आपके स्वामीके आगे अहिनी (साँपिनी) की दुर्दशा हुई। (पं०) (ख) *'भ्राता पिता पुत्र'* अर्थात् इनके देखनेसे कामकी उत्पत्ति न होनी चाहिये; पर इनके साथ भी स्त्री रहे तो काम न व्यापे, यह कठिन है। इसीसे मनुस्मृतिमें लिखा है कि '**मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्**' अर्थात् इनके साथ भी कभी एकान्तमें वास न करे)। [पाँड़ेजी 'भ्राताके तुल्य बराबरी अवस्थाका, पिताके

समान अधिक अवस्थावाला और पुत्रके समान छोटी अवस्थावाला पुरुष हो उसकी मनोहरता देखकर'—ऐसा अर्थ करते हैं।]

व्यापकजी—ग्रन्थकारकी शैली है कि जहाँ जिसकी प्रधानता दिखानी होती है वहाँ अन्य उदाहरणोंके साथ उसीको प्रथम देते हैं, जैसे, *'अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ये चारी॥'* में भगिनी, सुतनारी और कन्याके साथ *'अनुज बधू'* को ही प्रथम कहा, क्योंकि यहाँ प्रसङ्ग अनुजवधूका ही है। बालि अपने अनुज सुग्रीवकी स्त्रीमें रत था। वैसे ही प्रस्तुत प्रसंगमें शूर्पणखा एक साथ ही दोनों भ्राताओंपर आसक्त हुई है, अतः यहाँ 'पिता-पुत्र' के साथ प्रथम 'भ्राता' ही को कहा।

टिप्पणी—३ *'पुरुष मनोहर निरखत नारी॥ होइ बिकल''''* इति। भाव कि ये दोनों पुरुष मनोहर हैं। इसीसे वह मनको रोक न सकी, देखकर कामातुर हो गयी। स्मरण रहे कि वह दोनोंपर रीझी है, एकपर नहीं। यह बात कविने *'जुगल कुमारा'* पदसे लक्षित कर दिया है।

श्रीप्रज्ञानानन्दस्वामीजी—२(क) *'पुरुष मनोहर निरखत नारी'* इति। इसमें पहले तीन शब्द भावपूर्ण हैं। (१) *'पुरुष'*—यहाँ मनुज, नर, मनुष्य इत्यादि शब्दोंका प्रयोग न करके *'पुरुष'* शब्द प्रयुक्त करनेमें यह भाव है कि 'जिसमें पौरुष है ऐसा नर।'(२) *'मनोहर'*—इस शब्दसे एक और गुणका बोध कराया गया जो रुचिर, सुन्दर, सोहाए, चारु, मोहक इत्यादि शब्दोंमें नहीं है। इस शब्दसे जनाया कि वह 'पुरुष' मनको हरन करनेवाले सौन्दर्य, रूप आकृतिवाला हो। तथापि जो पुरुष एक स्त्रीको मनोहर होगा वह सभीको होगा ही ऐसा नियम नहीं है। जो सूर्य सूर्यकान्तको द्रवित करनेका निमित्त होता है वह हीरा, स्फटिकादिको द्रवित करनेमें समर्थ नहीं होता है। (३) *'निरखत'* इस शब्दसे भी दुष्टहृदयका ही निदर्शन होता है, कारण कि परपुरुषोंके मुखको निरखना--निरीक्षण करना—कुलवन्ती स्त्रियोंका धर्म नहीं है। यह तो कुलटाओंका स्वभाव है। (४) बहुत मुस्कराकर परपुरुषसे बातचीत करना भी सुशील नारियोंका स्वभाव, इस कलियुगमें भी नहीं है। शूर्पणखा कुलटा थी, इस कथनके लिये आगे भी बहुत आधार मिलते हैं। (ख) *'सक मनहिं न रोकी'* इति। भाव कि ऐसी स्त्रियोंमें फिर जाति-पाँति, नाता, कुल, अवस्था, काल, समय, परिस्थिति, लाज, भय इत्यादि कुछ भी विचार करनेकी शक्ति नहीं रह जाती है। जैसे पतंग दीपज्योतिपर लुब्ध होते हैं, वैसी ही स्थिति उनके मनकी हो जाती है। सत्य ही कहा है—**'कामातुराणां न भयं न लज्जा'**। काम वात है। इसमें रोगीकी विवेकशक्ति ही नष्ट हो जाती है। ☞ नारदादि भगवद्भक्तोंको सुन्दर नारी देखनेपर जो मोह होता है वह अविद्याजनित नहीं होता है। वह तो भगवत्प्रेरणासे, योगमाया विद्यामायाजनित होता है, उनका अभिमानाङ्कुर उखाड़नेके लिये ही वह प्रेरणा दी जाती है—*'हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥ ताते नास न होइ दास कर॥'*(७। ७९। २-३)

गौड़जी—सुधारक-समालोचक इन पदोंको उद्धृत करके गोसाईंजीका स्त्री-द्वेष सिद्ध करते हैं। परन्तु गोस्वामीजीने तो नीतिके प्रसिद्ध श्लोकका अनुवाद दिया है और ऐसे प्रसंगपर दिया है जहाँ एक राक्षसीकी कामातुरताका आगे ही चलकर वर्णन करते हैं। सामान्य स्वभाव कहकर विशेषका उदाहरण देते हैं, जो उद्देश्य है। जो कवि ऐसी पतिव्रताओंका वर्णन करता है जिनके लिये *'सपनेहूँ आन पुरुष जग नाहीं'* कहा है, वही उन अधम नारियोंका भी वर्णन कर रहा है जो शूर्पणखा-सी कामातुरा और निर्लज्जा होती हैं। ऐसी स्त्रियाँ संसारमें न होतीं तो अवश्य कविका स्त्रीद्वेष था।

प० प० प्र०—*'भ्राता''''बिलोकी'।* इन दो चौपाइयोंमें दिया हुआ सिद्धान्त नारिजातिके लिये नहीं है, यह पूर्वापर सम्बन्धसे स्पष्ट होता है। रावनकै बहिनी, दुष्ट हृदय, दारुण और अहिनी इन चार शब्दोंसे जिस स्वभावका ज्ञान होता है ऐसे स्वभाववाले स्त्रीसमुदायके लिये ही यह सिद्धान्त है। ग्रन्थके वचनोंका अर्थ करनेमें पूर्वापर सन्दर्भ, प्रकरणार्थ इत्यादि ध्यानमें न रखनेसे अर्थका अनर्थ किया जाता है। और कविपर मिथ्या दोषारोप भी किया जाता है तथा ऐसा करनेवाले स्वयं भ्रममें पड़ जाते हैं और दूसरोंको भी भ्रमपंकमें गिराते हैं। भला गोस्वामीजी जैसे महाभगवद्भक्तके हृदयमें समग्र नारिवर्गके लिये अनुदारताकी कल्पना भी करनेके लिये स्थान मिलेगा?

'जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी'

उपर्युक्त चरणोंके *'द्रव'* शब्दका अर्थ करनेमें कितने ही टीकाकारोंने प्रायः असावधानता की है, यथा—बाबू श्यामसुन्दरदासने अर्थ किया है कि 'सूर्यमणि सूर्यको देखकर पिघल जाती है।' वीरकवि पं० महावीरप्रसाद मालवीयने यह लिखा है कि 'सूर्यको देखकर सूर्यकान्तमणि पसीजने लगती है' एवं यह कि 'मणि सूर्यको देखकर पिघलती है।' बाबा हरिहरप्रसादने भी 'पसीजना' अर्थ किया है। बैजनाथजीने अक्षरार्थ न देकर केवल भावार्थ लिख दिया है कि शूर्पणखा कामाग्निसे पीड़ित हुई। करुणासिन्धुजी महाराजने लिखा है कि 'रविकी मणि वह है जिसमेंसे सूर्यके सम्मुख होनेपर अग्नि निकलती है किन्तु एक सूर्यमणि होती है, जब उसे सूर्यके सम्मुख करो तो उसमेंसे स्वर्ण द्रवता है।' और कई टीकाकारोंने 'द्रव' शब्द अर्थमें ज्यों-का-त्यों ही रख दिया है।

सम्पादकने दो-तीन कोश देखे और कई महात्माओंसे इस विषयमें सत्संग किया, पर उसको कहीं सूर्यकान्तमणिका सूर्यके सम्मुख रखे जानेपर पिघलने या पसीजनेका प्रमाण न मिला। सर्वसम्मत यही मिला कि उसमें अग्नि प्रकट होती है, उसमेंसे तेज प्रवाहित होता है। अतएव यही निश्चय करना पड़ता है कि टीकाकारोंने केवल भावको लेकर अर्थ कर दिया है।

हिन्दी-शब्द-सागरमें सूर्यकान्तमणिके विषयमें ऐसा लिखा है—'यह एक प्रकारका स्फटिक या बिल्लौर है। सूर्यके सामने रखनेसे इसमेंसे आँच निकलती है। रत्नपरीक्षा-ग्रन्थमें इसका गुण लिखा है।—***चन्द्रकान्तमणि अमृत उपजावै। सूर्यकान्तिमें अग्नि प्रजावै॥'*** इसको सूर्यमणि, रविमणि भी कहते हैं।

एक महानुभावका मत है कि 'द्रव' शब्दके स्थानपर 'दव' शब्द होना चाहिये। क्योंकि सूर्यकान्तमणि द्रवती (पसीजती) नहीं वरन् जल उठती है वा अग्नि प्रकट करती है, जिसके प्रमाण ये हैं—'**यदचेतनापि पादैः स्पृष्टा प्रज्वलित सवितुरिवकान्ता। तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतविकृतिं कथं सहते**॥'(भर्तृहरिनीतिशतक ३७) अर्थात् सूर्यकान्तमणि यदि अचेतन है तो भी सूर्यके किरणरूपी पादस्पर्श करनेसे जल उठती है। ऐसे ही तेजस्वी पुरुष परकृत अनादरको कैसे सहें? ***'प्रभु सनमुख भये नीच नर होत निपट बिकराल। रबिरुख लखि दरपन फटिक उगिलत ज्वाला जाल॥'*** (दोहावली ३७५)

'ऐसा अनुमान होता है कि 'दव' शब्दमें किसी प्रकार स्याहीका जरा-सा विन्दु पड़ जानेसे 'द्रव' शब्द पढ़ा गया है और उसीके अनुसार लोगोंने टीकाएँ लिखी हैं। इस ओर टीकाकारोंका ध्यान शायद नहीं गया कि वास्तवमें सूर्यकान्तमणि द्रवती है या नहीं। अपनी सम्मतिको वे इस तरह पुष्ट करते हैं कि ***'होइ बिकल'*** और 'द्रवित होना' इन दोनों शब्दोंमें विरोधभाव पाया जाता है अर्थात् जो व्याकुल होगा वह द्रवित न होगा और जो द्रवित होगा वह व्याकुल न होगा, और आगे चलकर सूर्यकान्तमणिका रूपक भी ठीक मिलता है अर्थात् खर-दूषणादि सेनासहित चले तब उन्होंने शूर्पणखाको आगे कर लिया और विनष्ट हुए। इसी प्रकार सूर्यकान्तमणि भी अपने पीछेवाले पदार्थको जला डालती है।'

प्राचीन एवं आधुनिक किसी प्रतिमें 'दव' पाठ नहीं है। 'द्रव' ही पाठ सर्वत्र है। हितोपदेशके '**सुवेषं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं यदि वा सुतम्। योनिः क्लिद्यति नारीणां सत्यं सत्यं हि नारद**॥' पं० रामकुमारजीने अपने संस्कृत खर्रोंमें ऐसा ही दूसरा श्लोक यह दिया है—'**सुस्नातं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं पितरं सुतम्। क्लिदन्ति योनयः स्त्रीणामामपात्रमिवाम्भसा**॥' नीति और वन्दन पाठकजीने यह श्लोक दिया है—'**सात्त्विकं भावमापन्ना मन्मथेन प्रपीडिताः। तरुणं पुरुषं दृष्ट्वा योनिर्द्रवति योषितः**॥' (इति **सत्योपाख्यान**) —इन श्लोकोंके अनुसार 'द्रव' शब्द बड़ा ही उत्कृष्ट है। भाव भी आ गया और भोंडी बात लेखमें न आयी। कैसा मर्यादाका निर्वाह किया है। धन्य गोस्वामीजी! आपने ऐसे शब्द रखे कि स्त्री, पुरुष, बच्चा, बूढ़ा कोई भी हो सबके सामने हर्षपूर्वक पढ़ा और कहा जा सकता है।

अब विचार करना है, ***'रबिमनि द्रव'*** की उपयुक्ततापर। यह बात मान्य है कि सूर्यमणिसे अग्नि प्रगट होती है।

☞ ***'रबिमनि द्रव जिमि रबिहि बिलोकी'*** का भाव यह है कि स्त्रीकी ओरसे स्वयं सौन्दर्य और सुवेषको

देखकर वासनाकी अग्निका उद्दीपन होने लगता है, यद्यपि उस सुवेष और सौन्दर्यके नायककी ओरसे प्रवृत्ति तो क्या ध्यानतक नहीं होता। प्रस्तुत प्रसङ्गमें इसी प्रकारकी प्राकृत नारि शूर्पणखाका वर्णन है जिसपर यद्यपि श्रीरघुनाथजीका ध्यान भी नहीं गया है तो भी अपनी ओरसे कामातुरा शूर्पणखा प्रवृत्त होती है।

श्रीस्वामी पं० रामवल्लभाशरणजी कहते हैं कि 'द्रव' शब्दका अर्थ 'प्रवाहित होना' है और ' रविमणि द्रव' का अर्थ हुआ—'रविमणिसे तेज प्रवाहित होता है।'

ब्रह्मचारी श्रीविन्दुजीने बताया है कि 'द्रव' शब्द 'द्रु' धातुसे बनता है जिसका अर्थ है—गति, गमन और मोक्ष। अत: 'द्रव' का अर्थ चलना, गमन करना तथा निर्गत और प्रवाहित होना होता है। अमरका भी यही मत है, यथा—'**प्रद्रावोद्द्रावसन्द्रावसन्दावाविद्रवोद्रवः॥**' विद्रव और उपद्रव आदि बहुत प्रचलित शब्द हैं कि जिनका अर्थ गमन और चपलता ही है।

उपर्युक्त पादमें 'द्रव' शब्द 'रविमणि' के साथ है। रविमणिके दो भेद हैं, एक सामान्य और दूसरा विशेष। सामान्य सूर्यकान्तमणि है जिससे सूर्यके सन्मुख होनेसे ज्वाला उत्पन्न होती है। और विशेष स्यमन्तकमणि।

यदि रविमणिका अर्थ सूर्यकान्तमणि किया जाय तो भी 'द्रव' शब्द सार्थक होता है और यदि स्यमन्तकमणि लिया जाय तो भी सूर्यकान्तमणिका अर्थ ग्रहण करनेपर उसका अनुवाद होगा कि 'जिस प्रकार सूर्यकान्तमणिसे उसके सूर्याभिमुख होनेसे ज्वाला निकलती है।' 'द्रव' क्रिया अपने वास्तविक अर्थमें अपने संज्ञापद '*रविमनि*' के सर्वथा अनुकूल होकर आयी है। ज्वाला या तेजके लिये निकलना, उद्‌गत होना, बहिर्गत होना तथा द्रवीभूत होना आदिका प्रयोग होता है। ज्वाला अथवा अग्निके लिये जैसे उद्‌गार प्रयुक्त होता है वैसे 'द्रव' भी, यथा—'**सोमकान्तो मणिः स्वच्छः सूर्यकान्तस्तथा न किम्। उद्‌गारे तु विशेषोऽस्ति तयोरमृतवह्नयः।**' इस श्लोकमें अमृत और अग्नि, दोनोंके लिये 'उद्‌गार' पदका प्रयोग हुआ है। चन्द्रकान्तमणिके अमृत अथवा रसके वर्णनमें जिस प्रकार 'द्रव' पदका प्रयोग हो सकता है उसी प्रकार सूर्यकान्तमणिकी ज्वालाके लिये भी। क्योंकि निर्गत, निस्सृत और प्रवाहित होना ही उसका अर्थ है, जैसे—'**सुधाकरकरस्पर्शाद्बहिर्द्रवति सर्वतः। चन्द्रकान्तमणेस्तेन मृदुत्वं लोकविश्रुतम्॥**' यहाँ '*बहिर्द्रवति*' का अर्थ बाहर निर्गत या प्रवाहित होना ही है। अत: जैसे रस या जलके निकलनेके लिये 'द्रव' शब्दका व्यवहार हो सकता है वैसे ही ज्वालाके लिये भी। जैसे रस और अमृत शब्द जलवाचक हैं और भावोत्कर्ष तथा दशा, आनन्द, शोभा और मोहके अर्थमें उनका व्यवहार होता है, उसी प्रकार द्रवका भी उसके गत्यर्थक होनेसे जैसे जल और तरल चल पदार्थोंके लिये व्यवहार हो सकता है, वैसे ही परिणामपूर्वक गतिशीलताको प्राप्त होनेवाले मणि आदि दृढ़ पदार्थों और मनुष्यादि चर जीवोंके लिये भी अन्त:करणके लिये जहाँ 'द्रव' शब्द आता है उसका अर्थ होता है दयाभावापन्न होकर अस्थिर अथवा चलचित्त होना। इसीको ढुरना, पसीजना और रीझना कहते हैं।

जिस प्रकार 'द्रु' धातुसे 'द्रव' बनता है उसी प्रकार 'स्रु' धातुसे 'स्रव' शब्द सिद्ध होता है जिसका अर्थ भी प्रवाहित होना, पतित अथवा स्खलित होना है। जलके लिये जैसे इसका प्रयोग होता है वैसे ही ज्वालमालाके लिये भी। स्वयं गोस्वामीजीने विरहिणी श्रीजनकनन्दिनीसे उसका प्रयोग कराया है, यथा—'*पावकमय ससि स्रवत न आगी।*' यहाँ अग्निके लिये 'स्रवत' कहा है। वर्षा भी इसी प्रकारका शब्द है। जैसे जल-वर्षा वैसे ही अग्नि, उपल, बाण तथा स्वर्ण-वर्षाका प्रयोग प्रसिद्ध है। 'द्रव' की तरह ज्वालमालाके उद्‌गारके लिये 'वमन' शब्दका भी गोस्वामीजीने विनयपत्रिकामें प्रयोग किया है, यथा—'*प्रबल पावक-महाज्वालमाला वमन।*'(वि० ३८) अत: 'द्रव' का प्रयोग रविमणिसे ज्वालनिर्गत अथवा प्रवाहित होनेके अर्थमें सर्वथा सङ्गत है और कविको अभिमत है।

सूर्यमणिका दूसरा अर्थविशेष स्यमन्तकमणि है। यह मणि सूर्यनारायणने अपने प्रिय भक्त और सखा सत्राजित्‌को दी थी। यह सूर्याभिमुख होनेसे प्रतिदिन आठ भार सोना प्रस्रव करती थी (जो सूर्यकिरणें उसमें प्रविष्ट होकर निकलती थीं उनका स्थूलरूप स्वर्ण हो जाता था), यथा—'**आसीत् सत्राजितः सूर्यो भक्तस्य परमः सखा। प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात्सूर्यस्तुष्टः स्यमन्तकम्॥**'(भा० १०। ५६। ३) **दिने दिने स्वर्णभारानष्टौ स सृजति प्रभो॥**'(श्रीमद्भागवत १०। ५६। ११) अत: स्यमन्तकमणिको ही विशिष्टरूपसे सूर्यमणि अथवा रविमणि कहते

हैं। और उससे स्वर्ण प्रवाहित होना प्रमाणित तथा प्रसिद्ध है। सुभाषित रत्नमालागारमें भी स्यमन्तकमणिको ही सूर्यकान्तमणि माना है। उसका गुण भी ऐसा ही था। उसमें इतना प्रकाश था कि उसका धारण करनेवाला दूसरा सूर्य ही प्रतीत होता था—'**स तं बिभ्रन्मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रविः।**'(भा० १०। ५६। ४)

दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक सिद्धान्तानुसार भी 'रविमनि' के लिये 'द्रव' शब्दका प्रयोग सर्वथा सार्थक सिद्ध होता है। वैशेषिक दर्शनकार भगवान् कणादका सिद्धान्त है कि अग्निमें निक्षिप्त हुए घटके परमाणु पहले द्रवीभूत हो जाते हैं, पश्चात् अग्निके संयोगसे रूपान्तरमें परिणत तथा एकत्र हो समष्टिरूप धारण करते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि सूर्यकान्तमणिसे ज्वाला निकलेगी तब पहले सूर्यकिरणोंके योगसे उसके परमाणु अवश्य द्रवीभूत होंगे और तभी वे ज्वालारूपमें परिणत होंगे। पदार्थोंका परिणाम या रूपान्तर बिना उनके परमाणुके द्रवीभूत हुए नहीं हो सकता। अतएव 'द्रव' क्रियाका प्रयोग '*रविमनि*' के लिये परमतत्त्ववेत्ता महाकविने बहुत ही सार्थक किया है।

यदि 'द्रव'के स्थानमें 'दव'का प्रस्तावित पाठान्तर मानें तो उसमें कई विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित होंगी। एक तो सब प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रतियोंमें 'द्रव' ही पाठ है। दूसरे 'द्रव' का पाठ बनता नहीं। क्योंकि वह (दव) 'द्रव' ही का समानार्थवाची है। दोनों पर्यायी हैं। 'द्रु' की भाँति 'दु' धातु भी, जिससे 'दव' बनता है, गत्यर्थक है। यदि 'दव' का वनाग्नि अर्थ ग्रहण करें तो वह सूर्यकान्तमणिकी ज्वालाके लिये सार्थक नहीं। तीसरे वनाग्निके अतिरिक्त ज्वालाकी क्रियाके रूपमें मानस या अन्य अपने काव्यमें गोस्वामीजीने उसका प्रयोग नहीं किया है तथा और भी किसी कविने ऐसा नहीं किया है। अतः 'द्रव' ही पाठ शुद्ध और सार्थक है।

रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई॥ ७॥
तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह संजोग बिधि रचा बिचारी॥ ८॥
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥ ९॥
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी। मन माना कछु तुम्हहिं निहारी॥१०॥

अर्थ—सुन्दर रूप धरकर प्रभुके पास जाकर, बहुत मुस्कराती हुई वह ये वचन बोली॥ ७॥ न तो तुम्हारे समान कोई पुरुष है और न मेरे समान स्त्री है, विधाताने यह संयोग विचारकर रचा है॥ ८॥ मेरे योग्य पुरुष संसारभरमें नहीं हैं, मैंने तीनों लोकोंमें ढूँढ़ देखा॥ ९॥ इसीसे मैं अबतक कुमारी ही बनी रही। अब तुमको देखकर कुछ मन माना है॥ १०॥

नोट—१ (क) '*रुचिर रूप धरि*''''''''' इति। यहाँ '*रुचिर*' शब्द बड़ा मनोहर है। मानसमें कविने इस विशेषणको प्रभुके सम्बन्धी पदार्थोंके साथ ही प्रायः प्रयुक्त किया है। यथा—'*अवधपुरी अति रुचिर बनाई*'(जन्मभूमि), '*बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई। जहँ खेलहिं*''''' (बालक्रीड़ाभूमि), '*तेहि गिरि रुचिर बसइ खग सोई*'(शिशुपनके साथका खिलाड़ी भक्त), '*सेज रुचिर रचि राम उठाये।*'(१। ३५६) (शय्या) '*उर अति रुचिर नागमनिमाला।*' (१। २१९) '*धृत कर चाप रुचिर कर सायक*', '*रुचिर चौतनी सुभग सिर*''''''''' और '*उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला*' (आभूषण, धनुष-बाण आदि)। '*छरस रुचिर ब्यंजन बहु जाती*' (जेवनारमें विवाहके समय)। वनवासमें प्रभु स्वयं '*रुचिर*' शब्दका प्रयोग करते हैं, यथा—'*तहँ रचि रुचिर परन तृनसाला। बास करउँ कछु काल कृपाला॥*', '*सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करब ललित नर लीला॥*' इन उदाहरणोंसे ज्ञात होता है कि प्रभुको '*रुचिर*' शब्द परमप्रिय है। इसीसे कविने वही शब्द उन्हें ठौर-ठौरपर समर्पण किया है। यहाँतक कि शूर्पणखा उनसे सम्बन्ध करने आयी तो उसका भी '*रुचिर*' रूपसे आना कहा है। मानो वह जानती है कि यह शब्द उनको प्रिय है, अतः रुचिर रूप धरनेसे वे मेरा प्रिय करेंगे, मैं उन्हें प्रिय लगूँगी। मारीच भी '*परम रुचिर मृग*' बनकर आता है। (२७। ३) देखिये। (ख) रुचिर रूप धरकर आनेमें यह भी भाव है कि कामासक्त होनेपर उसने विचारा कि जाकर मिलूँ पर वे मनुष्य हैं और मैं राक्षसी हूँ, उनको मुझसे सुख न होगा, वे मुझे देखकर मोहित न होंगे, अतएव सुन्दर रूप धरकर चलना चाहिये और उसने वैसा ही किया भी। (खर्रा)

नोट—२ (क) *'प्रभु पहिं'* का भाव कि वे समर्थ हैं, इसकी माया यहाँ न चलेगी, यहाँ 'प्रभु' विशेषण प्रारम्भमें ही देकर जनाया कि यहाँ उसकी दाल न गलेगी। (ख) *'बोली बचन बहुत मुसुकाई'* इति। इसमें अभिसारिका नायिकाका भाव स्पष्ट है। *'मुसुकाई'* अर्थात कटाक्ष करके, हाव-भाव दिखाकर। इस शब्दमें दाम्पत्य प्रेमका बीज प्रकट होता है, क्योंकि स्त्री-पुरुषमें प्रेमका प्रारम्भ मुस्क्यानसे ही होता है। (दीनजी) स्त्रीकी मुस्क्यान पुरुषके लिये फंदा वा फाँसी कही गयी है। इसी भावसे वह मुसुकायी। (पं० रा० कु०) (ग) *'तुम सम पुरुष न'* अर्थात् इसीसे मैं तुम्हें देखते ही तुम्हारे ऊपर आसक्त हो गयी। आजतक किसीका सौन्दर्य मुझे मोहित न कर सकता था। यथा—'……**राम त्वा पूर्वदर्शनात्। समुपेतास्मि भावेन भर्तारं पुरुषोत्तमम्॥**'(वाल्मी० ३। १७। २४) आगे स्वयं कहती है—*'मन माना कछु तुम्हहि निहारी॥'*(घ) *'न मो सम नारी'*—भाव कि जो स्त्री तुम्हारे पास है वह मेरे सामने तुच्छ है, विकृता और विरूपा है, असती है, भयानक है, पतली कमरवाली है, वह तुम्हारे योग्य नहीं है। मैं तुम्हारे योग्य हूँ। यथा—'**विकृता च विरूपा च न सेयं सदृशी तव। अहमेवानुरूपा ते भार्यारूपेण पश्य माम्॥**' (वाल्मी० ३। १७। २६) '**इमां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्।**……' (२७) आगे *'मन माना कछु'* में भी देखिये। (ङ) *'यह सँयोग बिधि रचा बिचारी'* इति। अर्थात् तुम्हारा सौन्दर्य अद्वितीय है और मेरा भी। यह सौन्दर्यकी जोड़ी विधाताने इसलिये रची है कि ये दोनों एक-दूसरेके अनुकूल हैं, इन दोनोंमें दाम्पत्य प्रेम होगा, तुम अपने अनुकूल सुन्दर जानकर मुझे अङ्गीकार करोगे। तुम पति होगे, मैं पत्नी हूँगी। विधाता पैदा करते ही लिख देते हैं कि किससे किसका संयोग होगा, अत: कहा कि *'यह सँजोग बिधि रचा।'* *'बिचारी'* अर्थात् बहुत सोच-समझकर रचा है, इससे यह अन्यथा नहीं हो सकता। विधाता संयोग रचते हैं, यथा—*'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी॥'*(१। २२३) *'जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होइ सब लोगू॥'* (१। २२२) पं० रामकुमारजी एक खर्रेमें लिखते हैं कि विधिका रचना इससे कहा कि श्रीरामजी विधिको मानते हैं, यथा—*'प्रभु बिधि बचनु कीन्ह चह साँचा।'*(१। ४९)

टिप्पणी—१ *'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं……'* इति। इन वचनोंसे उसका कपट खुल गया कि वह राक्षसी है, क्योंकि तीनों लोकोंमें स्वच्छन्दरूपसे राजकुमारी या किसी भलेमानसकी कन्या इस प्रकार न घूमती-फिरती। इस भावसे कविने यहाँ *'देखेउँ'* पद दिया। जनकपुरमें जहाँ अष्टसखियोंका संवाद है वहाँ वे कहती हैं—*'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनियत नाहीं॥'* (१। २२०) अर्थात् वहाँ कवि *'सुनियत'* पद देते हैं, जिसका भाव यह है कि वे सब परदेवाली और भलेमानसोंकी स्त्रियाँ हैं। खर-दूषणके प्रसंगमें भी देखना लिखा है, यथा—*'नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे सुने हते हम केते॥ हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥'*—[वाल्मीकिजी कहते हैं कि श्रीरामजीने जान लिया कि वह राक्षसी है तभी तो उन्होंने उससे कहा भी—'**त्वं हि तावन्मनोज्ञाङ्गी राक्षसी प्रतिभासि मे**'(३। १७। १८) अर्थात् हे सुन्दरी! तुम तो मुझे राक्षसी-सी जान पड़ती हो। यहाँ पूज्य कविने शिष्टताका कैसा मान किया है कि उन वचनोंको प्रभुके मुखसे नहीं कहलाया।]

प० प० प्र०—१ (क) जो स्त्री त्रैलोक्यके पुरुषोंको, अपने अनुरूप है या नहीं, इस भावसे खोजकर देखती है, क्या वह सुशीला कहने योग्य होगी? (ख) *'रहिउँ कुमारी'* यह असत्य भाषण है। वह विधवा थी तथापि कौमारावस्थाका रूप बनाकर वह अपनेको 'कुमारी' कहती है। इसमें दम्भ और कपट प्रकट हो गया। (ग) देखिये यहाँ भी 'पुरुष' शब्दका ही प्रयोग हुआ है, 'मनुज' का नहीं। (च) *'मन माना'* में भाव यह है कि यद्यपि आप भी मेरे पूर्ण अनुरूप नहीं हैं तथापि आपसे अधिक मनोहर पुरुष मिलना असम्भव है, अत: लाचारी है, आपसे ही काम चला लेना चाहिये। निशाचरगुण *'अधम अभिमानी'* यहाँ भी प्रकट है।

टिप्पणी—२ *'ताते अब लगि रहिउँ कुमारी……'* इति। (क) इन वचनोंसे पाया गया कि वह युवावस्था रूप धारण करके आयी है जिसमें शीघ्र मनोकामना सिद्ध हो। छोटी अवस्था धारण करती तो मनोरथकी

सिद्धिके लिये युवावस्था पहुँचनेतक रुकना पड़ता फिर भी न जाने कामना पूर्ण होती या न होती। आगेका संदेह मिटानेके लिये युवावस्थाका रूप बनाकर आयी। अपनी इतनी अवस्था हो जानेका कारण प्रथम ही कह चुकी कि ढूँढ़ती फिरी, कोई पति होनेयोग्य पुरुष ही न मिला। अब आप मिले। (ख) 'कछु' का भाव कि तुम भी हमारे सदृश यथार्थतः हमारे अनुरूप नहीं हो। *'मन माना'* से जनाया कि अपनी रुचि अनुकूल अपना स्वयंवर करती हूँ, यथा—*'करइ स्वयंबर सो नृप बाला।'*

☞ यहाँ यह बात देखनेयोग्य है कि शूर्पणखाने प्रभुके लिये बहुवचन और अपने लिये एकवचनका प्रयोग किया है। कारण कि वह पति बनाने आयी है। पुरुष स्वामी है और स्त्री दासी है।

नोट—३ लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि यहाँ *'कछु'* शब्दमें व्यंग है। कुछ ही मन माना है। इसीसे दो पर आसक्त हुई। यही भाव लेकर कविने पूर्व कहा है कि *'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा।'* नहीं तो यदि पूरा मन माना होता तो एकहीपर मुग्ध होती। दोनोंपर मुग्ध होनेसे भी *'तुम्ह सम', 'तुम्हहिं निहारी'* में बहुवचनका प्रयोग उपयुक्त ही हुआ है। पुनः, *'कछु मन माना'* से स्त्री-सुलभ अहंकार भी प्रकट होता है। इससे रूपगर्विता नायिका पायी जाती है—यह रसिकोंका अर्थ है। इसे भँवाकर भी अर्थ करते हैं जो भक्तोंका अर्थ है—'यद्यपि अभी हमने आपको कुछ ही देखा है, रूपमात्र ही, इतनेपर ही मेरा मन मान गया। इसमें आत्मसमर्पण है।

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता। अहै कुआर* मोर लघु भ्राता॥ ११॥

अर्थ—सीताजीकी ओर देखकर प्रभुने यह बात कही कि मेरा छोटा भाई कुमार है॥ ११॥

नोट—इस चौपाईमें *'चितइ'* और *'कुआर'* वा 'कुमार' शब्दोंपर टीकाकारोंने अनेक भाव लिखे हैं। और 'कुमार' शब्दपर शङ्का उठाकर अनेक प्रकारसे उसके समाधानका प्रयत्न किया है। पहले टीकाकारोंके कुछ भाव देकर तब उनपर विचार किया जायगा।

श्रीसीताजीकी ओर देखनेके भाव

पु० रा० कु०—(क) शूर्पणखाने कहा था कि मेरा *'मन माना कछु तुम्हहिं निहारी।'* प्रभु सीताजीकी ओर देखकर जनाते हैं कि *'मोर मन माना इन्हहिं निहारी'* यहाँसे मेरा मन हटकर कहीं जाता ही नहीं, यथा—*'सो मन सदा रहत तोहि पाहीं।'*(५। १५) और मैं एकपत्नीव्रत हूँ, मैं स्वप्नमें भी परस्त्रीपर दृष्टि नहीं डालता, यथा—*'मोहिं अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी॥'*(१। २३१) [वाल्मीकिजीने भी कहा है कि श्रीरामजीने श्रीसीताजीको अपना हृदय दे दिया था, इसीसे उनका मन सीताजीमें ही रहता था। यथा—**'मनस्वी तद्‍गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः।'**(१। ७७। २६) वे पर-स्त्रीकी ओर नहीं देखते, यथा—**'न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति।'**(२। ७२। ४८)] (ख) दो०—*'सूर्पणखा माया करि रुचिररूप मुसुकाइ। सीतहि चितये राम हम यह मायापति आइ॥'* अर्थात् शूर्पणखाने माया रची, कपटवेष बनाया, यथा—*'रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई॥' 'प्रभु चितइ'* कर जनाते हैं कि हम और ये मायाके ईश (मायापति) हैं, यथा—*'मायापति सेवक सन माया।'.... 'मायापति भगवान्', 'सुरमुनि सभय देखि मायानाथ अति कौतुक करेउ', 'माया सब सियमाया माहूँ।'* अतएव तेरी माया यहाँ न चलेगी। (ग) दोहा—*'हास्य झुठाई तब बनै चितै वे माया ओर। सीतहि लखि पुनि आपु लखु इन सम रूप न तोर॥'* अर्थात् केवल ईश्वरमें *'हास्य झुठाई'* नहीं बन पड़ते, जैसे केवल ब्रह्म जग-प्रपञ्च नहीं रच सकता। जब मायाका आश्रय होता है तब *'हास्य झुठाई'* करते बने हैं। अतः *'सीतहि चितइ कही।'* (घ) दोहा—*'सीता मम पत्नी अहै सीतहि पर मम दीठि। लखनहि कहेउ कुमार प्रभु सीतहि की रुचि मीठि॥१॥ मम हित बिधि सीतहि रचेउ मम हित तोहि कहँ नाहि। यह पतिब्रतकी सींव है तू व्यभिचारिनि आहि ॥ २॥'* अर्थात् श्रीसीताजी मेरी धर्मपत्नी हैं, मेरी दृष्टि सदा सीताहीपर रहती है, अन्यपर मेरी दृष्टि कदापि नहीं जाती। मेरे लिये

* 'कुआँर'—(छ०)। 'कुमार'—(का०, ना० प्र०)।

तो विधाताने सीताको ही रचा, तुझको मेरे लिये नहीं रचा। यह भी जनाया कि यह पतिव्रताओंकी सीमा है और तू तो व्यभिचारिणी है। प्रभुको सीताजी ही प्राणप्रिय हैं, दूसरेमें उनकी रुचि नहीं, यह भाव भी '*कुमार*' कहकर जनाया। (ङ) यहाँ इनकी ओर देखकर प्रत्यक्ष दिखाते हैं कि हमारे स्त्री है और मैं एकपत्नीव्रत हूँ तब मैं तुमको कैसे ब्याहूँ। मेरा भाई लक्ष्मण कुमार है तब हम कैसे (एक औरको) ब्याह लें। (च) कहीं लक्ष्मणजी यह न कह दें कि उनके भी स्त्री है, अतः इस प्रकार इशारा किया जिसमें लक्ष्मणजी जान जायँ कि यहाँ हास्य हो रहा है।

पाँड़ेजी—'***चितइ***' का भाव कि—(क) हमारे स्त्री है। (ख) इसका रूप देख। यह तुमसे कहीं अधिक सुन्दर है। (ग) लक्ष्मणको थाँभनेके लिये। (घ) जानकीजी रावणकी इष्ट हैं, अतएव उनका रुख देखते हैं कि रावणसे विरोध करें या न करें। और (ङ) 'हास्यकी भाँति कि देखो स्त्रीकी ऐसी प्रकृति होती है।'

व्यापकजी—श्रीसीताजीकी ओर देखनेका भाव यह है कि देख ले हमारे पास तो हमसे अधिक सुन्दर स्त्री है। श्रीसीताजी अधिक सुन्दर थीं, यथा—'***गर्ब करहु रघुनंदन जनि मन माह। देखहु आपनि मूरति सियकी छाँह॥***' (बरवै० १। १७) [प० प० प्र०—देखनेका भाव कि क्या इसकी इच्छा मान्य कर लूँ।]

मा० म०—श्रीरामचन्द्रजीने श्रीसीताजीकी ओर देखा, उसकी ओर दृष्टि भी न की।

☞ प्रायः यही भाव औरोंने भी लिखे हैं। इस चौपाईकी जोड़के श्लोक अध्यात्म और वाल्मीकीयमें ये हैं—'**रामः सीतां कटाक्षेण पश्यन् सस्मितमब्रवीत्। भार्या ममैषा कल्याणी विद्यते ह्यनपायिनी॥ त्वं तु सापत्न्य-दुःखेन कथं स्थास्यसि सुन्दरि। बहिरास्ते मम भ्राता लक्ष्मणोऽतीव सुन्दरः॥ तवानुरूपो भविता पतिस्तेनैव सञ्चर।**' (अध्यात्म० सर्ग ५। १२-१३) अर्थात् श्रीरामजीने सीताजीकी ओर संकेत करके मुसुकुराकर कहा कि यह कल्याणी मेरी स्त्री है, जो मेरे पास सदा रहती है। तुम दूसरी पत्नी बनकर रहोगी तो सदा सवतके दुःखसे दुःखी रहोगी। मेरा भाई लक्ष्मण अत्यन्त सुन्दर है जो बाहर बैठा है। वह तुम्हारे अनुरूप पति होगा। तुम उसीके साथ विहार करो। पुनः '**स्वेच्छया श्लक्ष्णया वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत्॥ कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम। त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता॥ अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान् प्रियदर्शनः। श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान्॥ अपूर्वी भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः। अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति॥ एनं भज विशालाक्षि भर्तारं भ्रातरं मम। असपत्ना वरारोहे मेरुमर्कप्रभा यथा॥**' (वाल्मी० ३। १८। १—५) अर्थात् श्रीरामजी शूर्पणखासे मधुर स्वरमें साफ-साफ हँसकर बोले। हे श्रीमति! मेरा विवाह हो चुका है। यह मेरी प्रिय स्त्री है और मौजूद है। तुम्हारे समान स्त्रियोंके लिये सवतका होना बड़ा ही दुःखदायी है। यह मेरा छोटा भाई लक्ष्मण है, सुन्दर शीलवान् देखनेमें सुन्दर और सब प्रकारकी सम्पत्तिवाला है, इसके स्त्री नहीं है और यह बड़ा वीर्यवान् है। तुम्हारे इस सुन्दर रूपके अनुरूप यह तुम्हारा पति हो सकता है। हे विशालाक्षि! तुम मेरे इस भाईको अपना पति बनाओ। वहाँ तुम बिना सवतकी रहोगी जैसे सूर्यकी प्रभा मेरुपर रहती है।

एक '***चितइ***' शब्दमें ही पूज्य कविने वाल्मीकि और अध्यात्मके भाव किस खूबीसे झलका दिये हैं। इतना ही नहीं वरन् उसमें अनेक भाव भर दिये हैं, जितने चाहे निकालते जायँ।

प० प० प्र०—'***प्रभु***' शब्द देकर जनाया कि सर्वज्ञ सर्वसमर्थ होनेसे वे उसका कपट इत्यादि जान गये। इसी भावमें '***प्रभु पहिं जाई***' में यह शब्द पूर्व आया है। इस प्रसङ्गमें यह शब्द पाँच बार आया है।

लक्ष्मणजीको 'कुआर' वा 'कुमार' कहनेके भाव—

पु० रा० कु०—(क) पदकी मैत्रीके लिये कुमार पद दिया। जैसे उसने कहा था कि '*अब लगि रहिउँ कुमारी*', वैसे ही प्रभुने मिलता-जुलता उत्तर दिया कि '*अहै कुमार*'। कुमारीका ब्याह कुमारके साथ उचित ही है, दोनोंका जोड़ है (पं०)। (ख) 'कुमार' का अर्थ 'लड़का', 'छोटा' और 'राजकुमार' भी होता है, उस अर्थमें भी ले सकते हैं। यथा—'*तुम्ह हनुमंत संग लौ तारा। करि बिनती समुझाउ कुमारा॥*' में सुग्रीवने छोटा जानकर यही 'कुमार' शब्द लक्ष्मणजीके लिये प्रयुक्त किया है। वैसा ही यहाँ समझ

लें। [कविने भी अभी-अभी 'कुमार' शब्द 'राजकुमार' अर्थमें प्रयुक्त किया है। यथा—*'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा।'* आगे भी कहा है *'मुनि मख राखन गयउ कुमारा।'* वैसा ही यहाँ भी समझ लें।]

मा० म०—भाव कि 'मार' (कामदेव) इनके अलौकिक द्वादश वर्षके व्रतको देखकर लजाता है। यहाँ हास्यरसके अन्तर्गत नीतिका उपदेश है कि तुम्हारा तोष करनेवाला कोई नहीं, मुझे पत्नी विद्यमान ही है और मेरे भाईने कामको द्वादश वर्षके कठिन व्रतसे निरादर ही किया।

अ० दी० कार कहते हैं *'रहित कुआर कुँअर कहि, अनट गिरा केहि हेतु। गत सम्बत रबि जोग रित, जित मन नृप सुत सेतु॥'* (२५) अर्थात् जो कुँआरे नहीं हैं, विवाहित हैं, उनको प्रभुने कुआँरा कहा, यह मिथ्या कैसे कहा? वे तो कभी असत्य नहीं बोलते? और उत्तर देते हैं कि वे असत्य नहीं बोले। रवि अर्थात् बारह संवत् (वर्ष) बीतनेपर राजपुत्रोंकी कुमार पदवी होती है। अथवा, 'जोगरित' अर्थात् रतिसंयोगरहित और *'जित मन'* मनके जीतनेवालोंको कुमार कहते हैं, यह मर्यादा है। लक्ष्मणजी अभी वैसे ही हैं।

पं० प्र०—अर्थात् इनकी स्त्री नहीं है। यहाँ प्रत्यक्ष स्त्रीके भावसे कुमार कहा।

दीनजी—यहाँ राजनीति है। नीतिके विचारसे राजनीतिका उत्तर देना अनुचित नहीं।

मा० शं०—हास्यरसमें मिथ्या बोलना दोष नहीं है। पुनः, छलीके साथ छलमयी वार्ता करना नीति है। **'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्।'**

करु०—स्त्रीरहित पुरुष विदेशमें है तो एक देशमें उसकी 'कुमार' संज्ञा है। वह विवाह कर ले तो दोष नहीं और यहाँ ऐसा कहनेका अवसर है।

व्यापकजी—इस चरणका अन्वय इस प्रकार करना चाहिये *'कुमार मोर लघुभ्राता अहै'* अर्थात् वह कुमार मेरा लघु भ्राता है। भाव यह कि तुम यह न समझो कि वह हमारा कोई नौकर है, उसके साथ विवाह करनेसे नौकरानी बनना पड़ेगा। वह रघुवंशी है, हमारा भाई है।

और भी अनेक भाव लोगोंने कहे हैं, जैसे कि (१) **'कुत्सितो मारो यस्मात् स कुमारः'** अर्थात् जिसके आगे कामदेवकी सुन्दरता भी कुछ नहीं है। (२) कुमारसे जनाया कि ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये हैं, वा, ब्रह्मचारी और इन्द्रियजित् हैं। (३) कुमार स्वामिकार्तिकको भी कहते हैं, उनके ये मोर हैं। तू सर्पिणी है, विवाह सजातीयमें होता है। (४) **कु** =पृथ्वी। **मार** =कामदेव। अर्थात् पृथ्वीपर कामदेवके समान सुन्दर है। (पं०) (५) **कु** =दुष्ट। कुमार=दुष्टोंको मारनेवाले। (६) कुमार=जिसने कामदेवको भी अपने रूपसे कुत्सित बना दिया। यथा—*'कोटि काम उपमा लघु सोऊ', 'जय सरीर छबि कोटि अनंगा।'* (७) शूर्पणखाको तो सुन्दर मनोहर पुरुष चाहिये। विवाहित व अविवाहितका प्रश्न वा विचार ही उसके आगे नहीं है। प्रभु भी यह स्पष्ट नहीं कहते कि हम ब्याहे हैं। (प० प० प्र०)

☞ यहाँ हास्य और व्यङ्गसे पूर्ण इस 'कुमार' शब्दका प्रयोग किया गया है। शूर्पणखा राक्षसी है, विधवा है और मायासे सुन्दर रूप बनाकर आयी है। इसपर भी झूठ बोलती है कि मैं 'कुमारी' हूँ। जैसे उसने हँसी की, वैसे ही उसको उत्तर भी हास्यरसयुक्त दिया गया। इसीसे वाल्मीकिजीने श्रीरामजीको यहाँ 'वाक्यविशारद' विशेषण दिया है, यथा—**'इत्येवमुक्तः काकुत्स्थः प्रहस्य मदिरेक्षणाम्। इदं वचनमारेभे वक्तुं वाक्यविशारदः॥'** (स० १७ श्लो० २९) अर्थात् वचनविशारद श्रीरामचन्द्रजी उस मतवाली आँखोंवाली शूर्पणखाके इस प्रकार वचन सुनकर हँसकर वचन बोले।

पुनः, हँसकर उत्तर देना भी हास्य ही जनाता है—**'वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत्।'**(वाल्मी० ३। १८। १) 'कुमार' शब्दका तोड़-मरोड़ करनेसे पाण्डित्य छोड़ असली बात हाथ नहीं लग सकती। वे जनाते हैं कि जैसी तू विधवा होती हुई भी 'कुमारी' है, वैसे ही यह मेरा भाई विवाह होनेपर भी 'कुमार' ही है। यहाँ उनकी स्त्री नहीं है, इससे यह हास्य भी पूरा गठा। वाल्मीकि आदि रामायणोंसे यही अर्थ निश्चय सिद्ध होता है और कविने पहले ही 'अहिनी' से इसकी समता देकर अहिराजके योग्य और भी उसे कर दिया। पूर्व वाल्मी० स० १८ के और अध्यात्मके उद्धृत श्लोकोंसे 'कुमार' का अर्थ *'बिन ब्याहा'*

छोड़ और क्या लिया जा सकता है? और यही भाव शूर्पणखाके हृदयमें बैठानेके लिये ही इस शब्दका प्रयोग हुआ है। फिर आगे चलकर वाल्मीकिजी और भी स्पष्ट कहते हैं कि यहाँ परिहास है, यथा—'**इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी। मन्यते तद्वचः सत्यं परिहासाविचक्षणा॥**' (१८। १३) अर्थात् शूर्पणखा परिहासमें प्रवीण न थी, इससे वह लक्ष्मणजीकी बातको सत्य समझ गयी।

हास्यमें झूठ अनिन्द्य है, दोषावह नहीं है। प्रमाण यथा—'**गोब्राह्मणार्थे हिंसायां वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे। स्त्रीषु नर्मविवादेषु नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्॥**' अर्थात् गौ-ब्राह्मणकी हिंसा होती हो, प्राण संकटमें पड़े हों, अपनी जीविका जाती हो, स्त्रियोंसे हँसी-दिल्लगीमें या झगड़ेमें झूठ निन्दनीय नहीं है। [उपर्युक्त श्लोक पूर्व संस्करणमें दिया गया था। भा० ८। १९ में श्लोक इस प्रकार है—'**स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे। गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्॥**'(४३)]

श्रीमानसी वन्दन पाठकजीका भी यही मत है कि यहाँ हास्य प्रधान है। पुन:,यह श्लिष्ट पद है। उसको सुझाना तो यही है कि इनके स्त्री नहीं है, मेरे स्त्री है और साथ ही श्लेषार्थी होनेसे झूठ भी नहीं। क्योंकि 'कुमार' छोटे और 'राजकुमार' को भी कहते ही हैं।

प्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि वाल्मीकीयका यह प्रसङ्ग (अरण्य सर्ग १८। २—४) भी आह्लाददायक और द्व्यर्थी वचनोंसे युक्त है। देखिये—'**कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम।**········ **अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान्प्रियदर्शनः। श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान्॥ अपूर्वी भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः।**' इधर भी उपहास है और असत्यका आभास भी स्पष्ट है। इतना स्पष्ट मानसमें नहीं है तथापि इधर भी असत्य है ही नहीं। यथा—'**श्रीः च मानः च कृतौ दाराः येन स श्रीमानकृतदारः। अपूर्वी न विद्यते पूर्वा यस्याः सा अपूर्वा तथा अपूर्वा भार्या यस्य स अपूर्वी भार्यया॥**' **अर्थी**=पूर्वभार्यया अर्थी, यह दूसरा अर्थ हो सकता है। यह है रामजीके मनका अर्थ। इसके अनुसार अर्थ यह है—लक्ष्मी और मानको जिसने दासीके समान बना रखा है और जिसकी भार्या ऐसी है कि उसके समान न पहले कभी कोई थी और न इस समय कोई है और उस अपनी पत्नीको जो चाहता है। संस्कृत टीकाकारोंने दूसरे अर्थ दिये हैं पर वे क्लिष्ट जान पड़ते हैं। अब लक्ष्मणजीके उत्तरमें देखिये—'**एतां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्। भार्यां वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति॥**'(१७। ११) इसके भी दो अर्थ केवल अन्वय भिन्न करनेसे होते हैं, विशेष विचार करना भी नहीं पड़ता है। यथा—(१) '**एतां विरूपाम् असतीम् करालां निर्णतोदरीम्। वृद्धां भार्याम् परित्यज्य एष त्वाम् एव भजिष्यति।**' (२) '**विरूपाम् असतीम् करालाम् निर्णतोदरीम्, वृद्धां त्वाम् परित्यज्य एष एतां भार्याम् एव भजिष्यति।**' सारांश, जब वाल्मीकीयमें केवल नरोत्तमरूपसे वर्णन करनेमें भी असत्य नहीं है तो भला मानसमें जहाँ ठौर-ठौरपर रामजीका परमात्मत्व उद्घोषित किया गया है वहाँ उपहासमें भी असत्य असम्भव है।

पु० रा० कु०—लक्ष्मणजीके पास क्यों भेजा? उत्तर—१ इसमें भाव यह है कि वह तो दोनोंपर रीझी हुई है। केवल प्रभुहीपर रीझी होती तो यहीं सारा मामला भुगतान हो जाता। लक्ष्मणजीपर भी रीझी है, अत: वहाँ भेजना जरूरी समझा। ['लघुभ्राता' का भाव कि जैसे हम राजकुमार वैसे ही वह, जैसे हम राज्य ऐश्वर्यके अधिकारी हैं वैसा ही वह है और हमसे छोटा है इससे तेरे योग्य है। (पां०)]

मा० हं०—'स्वामीजीकी शूर्पणखाकी तुलनामें अध्यात्मकार और वाल्मीकिजीकी शूर्पणखा बहुत ही भोली-सी दिखायी देती है। स्वामीजीकी शूर्पणखा यावनी अमलकी स्त्रियोंकी फसलमेंसे होनेके कारण अर्थात् वह बड़ी छिछोरी और षड्यन्त्रवाली हुई है। उसी सबबसे वह *'ताते अब लगि रहिउँ कुमारी। मन माना कछु तुम्हहि निहारी॥'* इस तरह ललक उठ सकी। इस निर्लज्जताके परिणाममें स्वामीजीके रामचन्द्रजीको भी प्रसङ्गवशत: *'सीतहि चितइ कही प्रभु बाता। अहइ कुमार मोर लघु भ्राता॥'* इस तरह एक रंगीला अलबेला-सा बनना पड़ा। ☞अपने अभिलषित ध्येयपर एकाग्र ध्यान रख उसके अनुसार चरित्र-चित्रण करनेमें गोसाईंजीकी बराबरी कदाचित् ही कोई कवि कर सके।'

गइ लछिमन रिपु भगिनी जानी। प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी॥ १२॥
सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा। पराधीन नहिं तोर सुपासा॥ १३॥
प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उन्हहिं सब छाजा॥ १४॥

अर्थ—वह लक्ष्मणजीके पास गयी। लक्ष्मणजी, उसे शत्रुकी बहिन जानकर और प्रभु श्रीरामजीको देखकर उससे कोमल वचन बोले॥ १२॥ हे सुन्दरी! सुन, मैं तो उनका दास हूँ। पराधीन रहनेमें तेरा सुपास (निर्वाह) न होगा॥ १३॥ प्रभु (रामजी) समर्थ हैं, अयोध्याके राजा हैं, वे जो कुछ करें उन्हें सब कुछ फबेगा॥ १४॥

प० प० प्र०—केवल *'गइ'* क्रिया-पदके प्रयोगसे कविने यहाँ बता दिया कि कितनी शीघ्रतासे गयी। श्रीरामजीके मुखसे शब्द निकलनेहीकी देर थी कि वह लक्ष्मणजीके समीप पहुँच गयी। रिपु भगिनी है यह *'उरप्रेरक रघुवंशविभूषण'* की प्रेरणासे जाना।

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१(क) *'रिपु भगिनी जानी।'* उसके *'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥'* इन वचनोंसे जान गये। 'रिपु' कहा क्योंकि जबसे *'निसिचरहीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह'* तभीसे सब शत्रु हो चुके। यथा—*'सेवक बैर बैर अधिकाई।'*—[खर्रा—रिपुभगिनी जाननेका यह भी कारण हो सकता है कि पहले अगस्त्यजी आदिसे सुना भी हो कि शूर्पणखा स्वतन्त्र, बेमर्यादा इस वनमें घूमा करती है। दूसरे, ऋषिपत्नी कोई न तो इस प्रकारसे स्वतन्त्र विचरेगी और न ऐसी बातें करेगी और वनमें सिवाय मुनियों और राक्षसोंके दूसरा है नहीं जो आता। वाल्मीकीय और अध्यात्ममें तो उसने अपनेसे ही रावणकी बहिन होना बताया है पर मानसकी कथासे उससे भेद है। अतः वह भाव प्रसंगानुकूल नहीं है।] (ख)—*'प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी'* इति। प्रभुकी ओर देखनेसे यह इशारा पाया कि इससे परिहास व विनोदपूर्ण बात करें, नहीं तो भला इनसे कब आशा थी कि ये शत्रुकी बहिन जानकर उसकी दुष्टताको सह सकते। यहाँ 'पिहित' और 'सूक्ष्म' अलङ्कार हैं। पुनः, *'प्रभु बिलोकि……'* में भाव यह है कि दोनों भाई रघुवंशकी मर्यादाका पालन करते हैं। *'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरै न काऊ॥' '……नहिं पावहिं पर तिय मनु डीठी॥'* (१। २३१) यह मर्यादा है। ये दोनों भी परस्त्रीका मुँह नहीं देखते। इसीसे प्रभुने श्रीसीताजीकी ओर देखकर उसको उत्तर दिया था। वैसे ही श्रीलक्ष्मणजी प्रभुकी ओर देखकर बोल रहे हैं, उसकी ओर नहीं देख रहे हैं। (व्यापकजी)

टिप्पणी—२(क) *'मैं उन्ह कर दासा'*, क्योंकि लघुभ्राता हैं—*'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥'* (२। १५) (ख) *'पराधीन नहि तोर सुपासा'*, यथा—*'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।'* रात-दिन सबकी सेवा ही करते बीतेगी। इससे भारी दुःख कौन है? **'दासी भविष्यसि त्वं तु ततो दुःखतरं नु किम्'**—(अध्यात्म० ३। ५। १६) [वाल्मी० में भी यही कहा है कि मैं तो दास हूँ। तुम दासकी स्त्री अर्थात् दासी क्यों बनना चाहती हो। यथा—**'कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि।'**(३। १८। ९) भाव कि तुम राजाकी बहिन हो अतः राजाके साथ तुम्हारा विवाह उचित है। *'नहि तोर सुपासा'* से जनाया कि हमारे साथ दुःख भोगना पड़ेगा और राजाकी रानी बननेसे सुख ही होगा। सम्मानार्थ बड़ेके लिये बहुवचनका प्रयोग होता ही है। अथवा 'उन्ह' से 'श्रीसीता' और 'श्रीराम' दोनोंका सेवक बताया।]

[व्यापकजीका मत है कि प्रभुने जो कहा था कि वह कुमार मेरा लघुभ्राता है, उसीको लेकर ये उत्तर देते हैं कि मैं उनका छोटा भाई नहीं हूँ किन्तु उनका दास हूँ। यथा—*'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥'* तथा *'मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।', आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ, पति ते सनेह सावधान रहत डरत। साहब सेवक रीति प्रीति परिमित……।'* (वि० २५१) उनका मत है कि यहाँ भाई-भाईके परस्पर हासका भी उदाहरण है जो कविने मानसमुखवंदमें कहा था—*'अवलोकनि बोलनि मिलनि प्रीति परस्पर हास।'* पर मेरी समझमें यहाँ परस्पर हास नहीं है। लक्ष्मणजी अपनेको सत्य ही दास मानते हैं, कभी यह नहीं सोचते कि भाई हैं, जैसा वि० २५१ से भी सिद्ध है।]

दीनजी—*'सुंदरि सुनु……'* यह व्यङ्गपूर्ण वचन है। वे आचार्य हैं और सर्वज्ञ हैं, अतः कहते हैं कि बड़ी सुन्दरी हो न जो हमको खसम (पति) बनाने आयी हो!—(नोट—*'सुन्दरि'* सम्बोधनमें यह भी भाव है कि तुम ऐसी सुन्दर हो कि रानी ही बननेयोग्य हो, दासी नहीं। तुम्हारी-ऐसी सुन्दरीको छोड़कर रामजी दूसरेसे प्रेम नहीं करेंगे, तुम उन्हींकी स्त्री बनो। यथा—'**को हि रूपमिदं श्रेष्ठं संत्यज्य वरवर्णिनि। मानुषीषु वरारोहे कुर्याद्भावं विचक्षणः॥**'(वाल्मी० ३। १८। १२) अर्थात् हे सुन्दरि! कौन बुद्धिमान् ऐसा सुन्दर रूप छोड़कर मानुषीसे प्रेम करेगा?)

टिप्पणी—३(क) *'प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा……………'* इति। समर्थका भाव कि *'समरथ कहुँ नहिं दोष गोसाईं। रबि पावक सुरसरिकी नाईं॥'* वे कई रानियाँ कर लें तो भी उनको कोई दोष नहीं दे सकता। किसी जातिकी भी स्त्रीको रानी बनानेसे उन्हें कोई जातिसे बाहर नहीं कर सकता। (ख) *'कोसलपुर राजा।'* भाव कि अवधेशजीकी ७०० रानियाँ थीं तो इनको दोमें क्या कठिनता है? मिलान कीजिये—'**समृद्धार्थस्य सिद्धार्था मुदितामलवर्णिनी। आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी॥**' (वाल्मी० स० १८। १०) अर्थात् रामजी सब तरह ऐश्वर्यमान् हैं। तुम उन्हींकी स्त्री बनो, वहाँ तुम्हारे सब मनोरथ पूर्ण होंगे, तुम प्रसन्न रहोगी।

सेवक सुख चह मान भिखारी। ब्यसनी धन सुभगति बिभिचारी॥ १५॥

लोभी जसु चह चार गुमानी*। नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी॥ १६॥

शब्दार्थ—व्यसनी=जिसे किसी बातका व्यसन (शौक, लत) हो; जुआरी, नशेबाज आदि। जुआ, स्त्री-प्रसङ्ग, नृत्य, गान, शिकार आदि १८ व्यसन मनुजीने कहे हैं। जिनमेंसे १० कामज और ८ क्रोधज हैं। जिसमें ये कोई भी व्यसन हों वह व्यसनी है। चार=दूत। गुमानी=अभिमानी।=संशयी।

अर्थ—सेवक सुखकी चाह करे, भिखारी प्रतिष्ठा चाहे, व्यसनी धन और व्यभिचारी (परत्रियगामी) सद्गति चाहे, लोभी यश चाहे और दूत अभिमानी हुआ चाहे अथवा संशयी चार फल चाहे (तो यह ऐसा जान पड़ता है कि) ये प्राणी आकाशसे दूध दुह लेना चाहते हैं॥ १५-१६॥

दीनजी—१ *'सेवक सुख चह',* का भाव कि विवाह सुखके लिये किया जाता है सो (सुख) न मिलेगा। दूसरे, मैं दास हूँ। दासकी स्त्री सुन्दर हुई तो कठिनाई ही पड़ती है; वह तो महलके लायक है।

नोट—१ *'सेवक सुख चह',* यथा '**कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि**' (वाल्मी० १८। १०) सेवकको तो अपना सारा प्रेम स्वामीकी सेवामें लगा देना होता है, उसे तो स्वार्थ-परमार्थ सबपर लात मारनी पड़ती है। उसे सुख कहाँ? यथा—*'सब तें सेवक धरम कठोरा॥'* (२। २०३) *'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा'*(अपने मनके विरुद्ध भी करना पड़ता है), *'सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥'*(२। ३०१) तब हम तुमसे प्रेम कब कर सकते हैं और प्रेम न होनेसे तुमको भी सुख कब मिल सकता है? प्रज्ञानानन्द स्वामीजीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि शरीर-सुख तथा विषय-सुखको चाहनेवाला कभी सच्चा सेवक हो ही नहीं सकता *'हर गिरि तें गुरु सेवक धरमू',* '**सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः**'। कोई सेवाको श्ववृत्ति कहते हैं, तथापि '**सेवाश्ववृत्तिर्यैरुक्ता न तैः सम्यगुदाहृतम्। स्वच्छन्दचरितः क्व श्वा विक्रीतासुश्च सेवकः॥**'(रा० चं० २)

दीनजी—२ *'मान भिखारी'* का भाव कि तुम प्रेमभिक्षा चाहती हो फिर भी मान चाहती हो, मानका खयाल हृदयमें घुसा हुआ है। जो स्वयं कहे कि मेरे पति बनो, वह व्यभिचारिणी ही समझी जायगी। [जो भिखारी बनकर भी मान चाहेगा उसको अपमान होनेपर दुःख और असमाधान ही होगा और अपमान तो भिक्षामें मिलता ही है, पर जिसको वह अपमान अमृतके समान लगेगा वह धन्य हो सकता है। (प० प० प्र०)] ३—*'ब्यसनी धन'* का भाव कि तुझे व्यसन है प्रेम करनेका। तू श्रीरामजीसे भी

* गुनानी—१७०४। विशेष पाठान्तरवाले नोटमें देखिये।

प्रेम करती है कि जो हमारे स्वामी हैं और हमसे भी जो दास हैं। प्राणधन बनानेवाली कईके पास नहीं जाती—(पतिको प्राणधन कहते हैं।) ४—एक तो तू विधवा। उसपर भी तू श्रीरामजीके पास गयी, फिर मेरे पास आयी; ऐसेको कौन स्वीकार कर सकता है? ऐसेकी गति बुरी ही होती है। [*'शुभगति बिभिचारी'* यथा—*'सुभ गति पाव कि पर तियगामी।'* व्यभिचारी कामी होते ही हैं। और *'कामी पुनि कि रहै अकलंका।'* (प० प० प्र)] ५—लोभी=जिसकी इच्छा पूर्ण न हो। तुम्हारी पतिकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई, इससे तुम्हारा अपयश होगा, यश न होगा और पति यशके लिये किया जाता है। [यश, कीर्ति पानेके लिये पुण्यकर्म करने पड़ते हैं, जिनमें धनका व्यय करना पड़ता है और धनका व्यय तो लोभीको मरणसे भी अधिक दुःखदायक होता है।—*'पावन जस कि पुन्य बिनु होई।'* (प० प० प्र)] ६—चार (सेवक) होकर चाहे कि स्वाभिमान कायम रहे सो नहीं रह सकता—यह आचार्यरूपसे फटकार है कि सुख और अभिमान ये दोनों अब न रहेंगे। सेवकको सुख मिलना, इत्यादि सब झूठ है, इनको 'नभसे दूध दुहना' इस झूठसे प्रमाणित करना 'मिथ्याध्यवसित' अलङ्कार है। [जो गुप्त दूतकर्म करता है वह यदि घमण्डी होगा तो उसका गोप्य स्फोट (प्रकट) हो जायगा (प० प० प्र०)]

नोट—२ यहाँ प्रस्तुत प्रसंग है दास और दासी (दासकी स्त्री) के सुखकी चाह करने और सुख मिलनेका, अतः *'सेवक सुख चह'* से ही इन नीतियोंको प्रारम्भ किया गया।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी—गुमानी=संशयी। यथा—*'तुलसी जु पै गुमानको होतो कहूँ उपाउ। तौ कि जानकिहि जानि जिय परिहरते रघुराउ॥'* और 'चार' से चार फलका ग्रहण है, जैसे—*'नव सप्त साजे सुंदरी'* में *'नवसप्त'* से सोलहों शृङ्गारका ग्रहण होता है। अतः अर्थ हुआ कि *'संसयी चार फल चाहे'* तो उसका चाहना आकाशसे दूध दुहनेके समान है, क्योंकि 'नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।' संशयात्माके दोनों लोकोंमेंसे कोई नहीं बनता। उसका चार फल चाहना व्यर्थ है।

शिला—यहाँ लक्ष्मणजीने छः बातें कहीं—सेवक सुख, भिखारी मान, व्यसनी धन, व्यभिचारी शुभगति, लोभी यश और चार गुमान—इनमेंसे तीन अपने लिये और तीन उसमें अयोग्य दिखायीं। १ *'सेवकसुख'*—भाव कि हम घरबार छोड़ शीत, गर्मी, वर्षा, हवा आदि सहते हैं, परस्त्रीभोग-सुख कैसे योग्य हो सकता है? सुखभोग और रामसेवा यह मुझमें अयोग्य है। २ *'भिखारी मान'* —भाव कि तू कामासक्त होकर भिखारिनी बनकर याचना करने आयी। तुझे जवाब मिल गया, तब तू हमसे अपना मान कराने आयी। यह तुझमें अयोग्य है। ३ *'व्यसनी धन'*—'धन' लाभ है और *'लाभ कि रघुपति भगति समाना।'* परस्त्रीगामी होकर भक्ति भी बनी रहे, यह कैसे सम्भव है? ४ *'सुभगति व्यभिचारी'*—तू व्यभिचारिणी है। प्रथम तूने श्रीरामजीको वर बनाना चाहा, अब हमको पति बनाया चाहती है। यह शुभ चाल नहीं है। ५ *'लोभी यश'*—बिना कुलजाति जाने ब्याह करना लोभ है, इससे यश नहीं मिल सकता। अतः ऐसा करना हमारे लिये अयोग्य है। ६ *'चार गुमानी'*—तुझे अपने सौन्दर्यका बड़ा गुमान है। तब ऐसी गर्ववाली स्त्रीको कौन ब्याहेगा? यह तुझमें अयोग्य है।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—नीतिके वचन लक्ष्मणजीके मुखमें रखनेमें भाव यह है कि शूर्पणखाके आगमनके पहले *'कहत ज्ञान बिराग गुन नीती'* दिन जाते थे। इस चर्चाको लक्ष्मणजीने कैसा आत्मसात् कर रखा है यह यहाँ दिखाया। और ये पाँचों असम्भव बातें शूर्पणखा और रावण दोनोंमें घटती हैं। यथा—(क) सेवककी पत्नी होकर सुख चाहनेवाली तू महामूर्ख है। (ख) तू प्रणयकी भिक्षा माँगती है और तुझको घमण्ड है कि मेरे अनुरूप त्रिलोकमें कोई नहीं है। (ग) तू रावणकी भगिनी होनेसे उसके समान मदिरा, व्यभिचार इत्यादि दुर्व्यसनोंकी दासी है, अतः तू और तेरा भाई दोनों भिखारी हो जायेंगे। (घ) तुम दोनों व्यभिचारप्रिय हो इससे तुम्हारी दुर्गति होगी। (ङ) यहाँ जो गुप्त दौत्यकर्म करनेका तेरा हेतु है वह सब निष्फल ही हो गया। पर अभी तेरा शासन भी करना चाहिये। तू दण्डके योग्य है।

नोट—३ *'नभ दुहि दूध चहत।'* 'आकाशसे दूध दुहना' यह मुहावरा है। अर्थात् असम्भव या असाध्य

बातको सम्भव करना चाहते हैं, यह कैसे हो सकती है? आशय कि मैं दास हूँ, मेरे साथ रहकर सुख कैसे सम्भव है? सुख तो स्वामिनी बननेसे ही तुम्हें मिलेगा, तुम स्वामीकी स्त्री जाकर बनो।

नोट—४ मिलानके श्लोक, यथा—'**सेवैव मानमखिलं ज्योत्स्नेव तमो जरेव लावण्यम्। हरिहरकथेव दुरितं गुणशतमभ्यर्थिता हरति॥**'—(हितोपदेश) '**अर्थी लाघवमुच्छ्रितो निपतनं कामातुरो लाञ्छनम्। लुब्धोऽकीर्तिमसंगरः परिभवं दुष्टोऽन्यदोषे रतिम्॥**'—(नवरत्ने) अर्थात् सेवा सम्पूर्ण मानको, चाँदनी अन्धकारको, बुढ़ापा सुन्दरताको, हरिहरकथा पापको और याचना सैकड़ों गुणोंको हर लेती है॥ १॥ अर्थी लघुताको, उच्चस्थ पतनको, कामातुर कलंकको, लोभी अपयशको और रण-विमुख अपमानको प्राप्त होता है। दुष्ट दूसरेके दोषोंमें रति प्राप्त करता है। '*प्रानी*' शब्दमें व्यङ्ग है कि वे पशु हैं।

पाठान्तर—१७०४, रा० प० में '*चार गुनानी*' पाठ है। चार गुनानी=चुगलखोर गुणसमूह चाहे। (रा० प०) चार=जो छिपकर पराया दोष देखे और फिर प्रकट करे। (रा० प० प०) १७२१, १७६२, छ०, को० रा० आदिमें 'गुमानी' पाठ है। '*चार गुमानी*' का अर्थ पूर्व आ गया। भा० दा० ने 'चारु' पाठ दिया है। गौड़जी कहते हैं कि यहाँ अन्वय करनेमें ['*लोभी जस चह (अरु) चार गुमानी (होन चह)*'] अन्तमें 'गुमानी' शब्दके बाद '*होन चह*' विवक्षित है। ऐसा माननेसे '*चार गुमानी*' पाठ ठीक समझा जा सकता है। परन्तु भिन्न-भिन्न प्रतियोंके पाठमें भेद है। यदि '*चार गुमानी*' पाठ समझा जाय तो अर्थ होगा 'चार' (जासूस और इसलिये चुगलखोर) 'गुनानी' (गुणोंका समूह) चाहे। यदि पाठ '*चारु गुमानी*' है तो अन्वय होगा—'*लोभी चारु (सुन्दर) गुमानी* (गर्व करने लायक) *यश चह।*'

पुनि फिरि राम निकट सो आई। प्रभु लछिमन पहिं बहुरि पठाई॥१७॥
लछिमन कहा तोहि सो बरई। जो तृन तोरि लाज परिहरई॥१८॥

शब्दार्थ—तिनका तोड़ना=सम्बन्ध छोड़ना—यह मुहावरा है।

अर्थ—वह पुनः लौटकर श्रीरामजीके पास आयी। श्रीरामचन्द्रजीने उसे फिर लक्ष्मणजीके पास भेज दिया॥ १७॥ लक्ष्मणजी बोले कि तुझे वही ब्याहेगा जो लज्जाको तिनकावत् तोड़कर त्याग देगा (वा, तिनका तोड़कर लज्जाको छोड़ दे) अर्थात् निर्लज्ज हो जाय॥ १८॥

नोट—१ कुलटा स्त्रीकी यही दशा होती है। वह सभीको अपना पति बनाती है। लक्ष्मणजीके इस रूखे उत्तरसे अब वह समझ गयी कि यह सब परिहास था।

नोट—२ किसी-किसी महानुभावने यहाँ प्रश्न किया है कि 'प्रभुकी तो बानि है कि कोई भी कैसे ही शरणमें आवे तो उसका त्याग नहीं करते। यथा—'*काममोहित गोपिकन्ह पर कृपा अतुलित कीन्हि।*' (वि० २१४) शूर्पणखा शरणमें आयी, चाहे काम, लोभ या किसी रीतिसे आयी, तब उसका त्याग क्यों किया?' उत्तर यह है कि एक तो वह कपटवेष बनाकर आयी। दूसरे वह व्यभिचारिणी बनकर आयी। वह तो '*देखि बिकल भइ जुगल कुमारा।*' अतएव वह किसीके कामकी न रही और न उसका शरण होना कहा जा सकता है। यही हाल उनका होता है जो अनेक देवताओंकी शरणमें दौड़ते हैं, कोई भी ऐसेकी रक्षा नहीं करता, जैसे द्रौपदी और गजेन्द्र जबतक दूसरोंका भरोसा करते रहे तबतक भगवान्‌ने उनकी सहायता न की। यदि शूर्पणखा सत्य ही प्रेम करके उनकी शरणमें गयी होती तो शरणागतवत्सल भगवान् उसे अवश्य ग्रहण करते। (मा० म०, मयूख)

नोट—३—यहाँ 'राम' शब्द '**रमु क्रीडायाम्**' का भाव जनाता है। प्रभु क्रीड़ा कर रहे हैं। शूर्पणखा-प्रसङ्गमें इसके पूर्व 'राम' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है। प्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि इस समय शूर्पणखाके श्रीरघुनाथजीके निकट जानेपर 'राम' शब्द देकर कवि जनाते हैं कि वह अब भी यही समझती है कि उनको आराम मिलेगा। पर उसी चौपाईमें 'प्रभु' शब्दसे कवि बताते हैं कि आराम तो दूर रहा उसे दण्ड ही मिलेगा, इस प्रसङ्गमें पाँच बार 'प्रभु' शब्दके प्रयोगका भाव यह है कि श्रीरामजीका प्रभुत्व

केवल रूपविषयपर ही नहीं किन्तु पाँचों विषयोंपर है।

नोट—४ *'सो बरई'''''जो तृन तोरि'''''* इति। लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि यह आचार्यरूपसे मानो वरदान है कि वह अवतार तुझको बरेगा जिसमें लाज न होगी।

नोट—५ लक्ष्मणजीके वचन सुनकर वह श्रीरामजीके पास लौट आयी। इससे जाना गया कि उनकी बात इसको भायी, इसको मनमें जँची कि सत्य है, बड़ेकी रानी बननेमें ये सब मेरी सेवा करेंगे और छोटेकी स्त्री बननेमें दासी बनना होगा यथा—'**इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी। मन्यते तद्वचः सत्यं परिहासाविचक्षणा॥**' (वाल्मी० ३। १८। १३)

तब खिसिआनि राम पहिं गई। रूप भयंकर प्रगटत भई॥ १९॥
सीतहि सभय देखि रघुराई। कहा अनुज सन सयन बुझाई॥ २०॥

अर्थ—तब वह खिसियायी हुई श्रीरामचन्द्रजीके पास गयी और उसने भयंकर रूप प्रकट कर लिया॥ १९॥ सीताजीको भयभीत देखकर श्रीरघुनाथजीने भाई लक्ष्मणसे इशारेसे समझाकर कहा॥ २०॥

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—*'तब खिसिआनि'''''* इसके दोनों चरण १५-१५ मात्राओंके हैं। ग्रन्थके आरम्भसे यहाँतक एक भी चौपाई ऐसी नहीं है, पर यहाँसे उत्तरकाण्डके अन्ततक कम-से-कम १२७ अर्धालियाँ ऐसी मिलती हैं। २० वर्षके बाद २८। ११। ८१ को सहसा मेरा समाधान हो गया कि इसमें काव्यदोष नहीं है, ऐसा करनेमें गूढ़ भाव है। सम्पूर्ण स्थानोंमें खोज करनेपर यह साधार सिद्ध हुआ कि विशिष्ट भावोंका दिग्दर्शन करानेके लिये अन्तकी चार मात्राओंमेंसे एक-एक मात्रा न्यून रखकर गतिभंग कराया गया है। ठौर-ठौरपर यह गतिभंग और लयभंग खटकता है।

शूर्पणखा-आगमन होनेपर सीता-हरणकी अतीव दुःखद घटना कविके मनश्चक्षुके सामने आ जानेसे रावणके वधकी कथा शीघ्रातिशीघ्र लिख देनेकी कल्पना और निश्चय भी खड़ा हो गया और यहाँसे कथाको अति संक्षिप्तरूप देनेका निश्चय हो गया। ऐसा करनेमें, विविध भावोंका शब्द-चित्र जैसा आदिके दो काण्डोंमें खींचा गया वैसा खींचना असम्भव जानकर भाव-प्रदर्शनकी एक नयी कला स्फूर्त हो गयी जो इन १५-१५ मात्राओंकी अर्धालियोंमें निहित है। अब इन दो अर्धालियोंका रहस्य प्रकट करके बताया जाता है।

'तब खिसिआनि राम पहिं गई' इति। जब दुष्ट राक्षसोंका तिरस्कार किया जाता है तब वे राक्षसी कर्म करते ही हैं। श्रीरामजीके पास श्रीसीताजी बैठी हैं जो *'चित्रलिखित कपि देखि डेराती'* हैं। शूर्पणखा क्रोधाविष्ट होकर निकट जायगी तब भयसे उनकी दशा कैसी होगी, यह कल्पना कविके हृदयमें खड़ी हो गयी। पर भीतिके भावोंको शब्दोंमें लिखकर कथाका विस्तार करना अनुचित है, इससे ये भीतिके भाव निदर्शित करनेके लिये एक मात्रा न्यून कर दी गयी। सीताजीमें भीतिसे उत्पन्न कम्प, स्वेद, स्तम्भ इत्यादि भाव शब्दोंमें लिखकर नहीं बताये। इसी प्रकार प्रत्येक स्थानमें कहीं भक्ति, कहीं भीति, कहीं शोक, कहीं आश्चर्य इत्यादि विविध भाव, केवल एक मात्रा कम करके, प्रकट करनेकी अपूर्व काव्यकला केवल मानसमें ही मिलती है। धन्य! धन्य!

नोट—१ *'रूप भयंकर प्रगटत भई'* इति। कामनाकी हानि होनेपर क्रोध होता ही है। उसकी कामना पूर्ण न हुई तब क्रोधमें भरकर वह भयंकर रूप धारणकर श्रीसीताजीको खाने दौड़ी यह कहते हुए कि न यह रहेगी न सवतका डर रहेगा। यथा—'**अद्येमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीम्। त्वया सह चरिष्यामि निःसपत्ना यथासुखम्॥' इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीमलातसदृशेक्षणा। अभ्यगच्छत्सुसंक्रुद्धा महोल्का रोहिणीमिव॥**' (वाल्मी० ३। १८। १६-१७) अर्थात् ज्वालाहीन अग्निकाष्ठके समान नेत्रोंवाली शूर्पणखा ऐसा कहकर कि 'तुम्हारे देखते-ही-देखते इस मानुषीको मैं इसी समय खाये डालती हूँ। सवतके न रहनेपर मैं सुखपूर्वक तुम्हारे साथ विचरण करूँगी', वह क्रोधपूर्वक बालमृगनयनी श्रीजानकीजीपर झपटी जैसे महान् उल्का रोहिणीपर झपटती है।

टिप्पणी—१ *'सीतहि सभय देखि रघुराई'* इति। 'अभय' देना रामजीका विरद है, व्रत है। जब कोई सभय होकर शरण हुआ उन्होंने अभय किया, यथा—'**अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम**'

(वाल्मी० ६। १८। ३३) *'मम पन सरनागत भयहारी।'* (५। ४३) *'जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥'* (५। ४४) *'जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह'''''।'* (१। १८६) *'सभय देव करुनानिधि जाने।', 'सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीरु।'* (१। २७०) *'सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक करेउ'''''।'* (३। २०) इत्यादि। तथा यहाँ *'सभय देखि'* निर्भय करनेका उपाय तुरन्त रच दिया। भयकी निवृत्तिके विचारसे *'रघुराई'* पद दिया। दो-तीन बार घुमानेका कारण है—उसका अपराध सिद्ध करना।

प० प० प्र०—'रघुराई' शब्दका भाव बतानेके लिये *'सीता, सभय* और *देखि',* ये तीन शब्द पर्याप्त हैं। श्रीसीताजी रघुवंशकी प्रिय वधू हैं, श्रीरामजी रघुवंशके राजा हैं, सीताजी सभीत हैं यह रघुराईने देखा है। फिर क्या ऐसी अवस्थामें रघुवंशके राजाको शान्त बैठकर वंशकी वनिताकी भयार्त अवस्था देखते रहना शक्य है भय और भयका कारण मिटा देना उनका कर्तव्य ही है वही अब ये करेंगे, यह भाव *'रघुराई'* शब्दमें है।

प० प० प्र०—*'बुझाई'* शब्दका भाव कि इस रीतिसे कहा कि लक्ष्मणजी निःसंदेह समझ जायँ कि क्या करना है, नहीं तो फिर पूछनेमें कालक्षेप होगा, इतनेमें वह कामरूपिणी निशाचरी कहीं गुप्त न हो जाय। वह भयंकरा और कामरूपिणी है यह उसने स्वयं ही कहा है, तथा—'**अहं शूर्पणखा नाम राक्षसी कामरूपिणी। अरण्यं विचरामीदमेका सर्वभयंकरा॥**'(वाल्मी० ३। १७। २०-२१) और साधारणतः सभी राक्षस कामरूपी होते ही हैं, यथा—*'कामरूप जानहिं सब माया।'* भगवान्‌की इच्छा है कि इस समय निशाचरविनाशका बीज बो दें। यदि वह भाग गयी तो निशाचरोंका विनाश करनेके लिये पर्याप्त सबल कारण ही न मिलेगा।

टिप्पणी—२ *'कहा अनुज सन सयन बुझाई'* इति। यहाँ 'सूक्ष्म अलङ्कार' है, यथा—*'पर आशय लखिकै करै चेष्टा साभिप्राय। उत्तर रूप अनूप जहँ तहाँ सूक्ष्म कबिराय॥ लषन लखेउ रघुनाथ दिशि निशिचरि ब्याहन काम। तर्जनि पर धरि तर्जनी ऐंचि लई तब राम॥', 'बेद नाम कहि अंगुरिन खंडि अकास। पठयो सूपनखाहि लषन के पास॥'*(बरवै २८)

नोट—२ आनन्दरामायणमें अँगुलीसे इशारा कहना कहा है—'**वैदेहीं सभयां दृष्ट्वा अंगुल्या बोधितोऽनुजः।**' बरवै रामायणके अनुसार यहाँ इशारा यों किया कि चार अँगुलियाँ दिखाकर वेदका अर्थ सूचित किया (क्योंकि वेद चार हैं) और वेद 'श्रुति' को कहते हैं। श्रुतिका एक अर्थ 'कान' है। फिर अँगुली आकाशकी ओर घुमाकर आकाशका खण्डन भी जनाया। आकाश 'नाक' को कहते हैं।

दीनजी—यहाँ 'युक्ति अलङ्कार' है। अपना मर्म लक्ष्मणजीको बताना और शूर्पणखासे छिपाना था। *'कहा अनुज सन सयन बुझाई'* से जनाया कि लक्ष्मणजी इतने पास थे कि शब्द सुन सकें और उँगलीका इशारा देख सकें।

[जहाँ गुप्त रीतिसे कुछ समझाना होता है, बातको दूसरोंसे गुप्त रखना होता है, वहाँ प्रायः संकेतसे काम लिया जाता है। यथा—*'रघुपति सयनहि लखनु नेवारे।'* (१। २७६) *'सयनहि रघुपति लषनु नेवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे॥'* (१। २५४) *'निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि।'* (२। ११७) *'कहेसु जानि जिय सयन बुझाई।'* (४। १। ४) (व्यापकजी)]

पं० रा० च० शुक्ल—कविलोग अपनी चतुराई दिखानेके लिये श्लेष, कूट, पहेलिका आदि लाया करते हैं। पर परमभावुक गोस्वामीजीने ऐसा नहीं किया। केवल एक (इसी) स्थानपर ऐसी युक्तिपटुता है, पर वह आख्यानगत पात्रका चातुर्य दिखानेके लिये ही है। लक्ष्मणजीसे शूर्पणखाके नाक-कान काटनेके लिये राम इस तरह इशारा करते हैं—*'बेद नाम कहि अँगुरिन खंडि अकास। पठयो सूपनखाहि लखन के पास॥'* (वेद=श्रुति=कान। आकाश=स्वर्ग=नाक)।

दो०—लछिमन अति लाघव सो नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहँ मनो चुनवती दीन्हि॥ १७॥

शब्दार्थ—**लाघव**=हाथकी सफाई, फुर्ती, सहजमें, जल्दी। यथा—'*अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा।*'

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने बड़ी फुर्तीसे उसको बिना नाक-कानका कर दिया, मानो उसके हाथ रावणको चुनौती दी हो(अर्थात् ललकारा कि मर्द हो तो सामने आओ)॥ १७॥

टिप्पणी—'*ताके कर*' में यह भी ध्वनि है कि नाक-कान काटकर उसके हाथमें धर दिये।

प्रज्ञानानन्दस्वामीजी—१ '*अति लाघव*' अर्थात् उसको विरोध करनेका अवसर ही न देकर तथा उसके शरीरको स्पर्श किये बिना अत्यन्त फुर्तीसे यह काम किया। विरोधका अवसर मिल जाता तो कदाचित् स्त्री-हत्या करनेका प्रसङ्ग आ जाता अथवा इस विरोधमें उस दुष्टाके शरीरका स्पर्श करना पड़ता।

नोट—१ '*नाक कान बिनु कीन्हि*' इति। नाक-कान काटनेका भाव कि—(क) व्यभिचारिणीके लिये यही दण्ड है। उनको रूप और यौवनका गर्व होता है, नाक-कान काटनेसे कुरूपा हो जायगी। आज भी न्यायालयोंमें ऐसे मामले देखनेमें आते हैं कि पति या जारने स्त्रीको दूसरे मनुष्यसे संग करते पा उसकी नाक काट डाली है। (ख) (वंदन पाठकजी लिखते हैं कि) नाक काटनेसे व्यभिचारिणीको विरूप कर दण्ड दिया और कान इसलिये काटा कि तूने इनसे सुना नहीं कि श्रीराम धर्मात्मा एकपत्नीव्रत हैं। (ग) पति दासीजी लिखती हैं कि '*सूपनखा गइ रामपहँ तजि वैधव्य बिचार। 'दासी' याते नासिका काटे राजकुमार॥*' पुनः, (घ) कानमें बहुत-से भूषण पहने जाते हैं। नाक-कानसे ही स्त्रीका शृङ्गार और शोभा होती है। इनके काटनेपर वह कुरूपा हो जाती है। इस प्रकार उसकी अधर्ममें प्रवृत्ति आप ही मिट जाती है। (ङ) कान=श्रुति, नाक=स्वर्ग। नाक-कान काटनेका भाव कि श्रुति और सुर-विरोधी रावणको चुनौती दी। (प्र०) (च) प्रश्न—नाक-कान उसने काटने कैसे दिया, हाथ-पैर न हिलाये? इसका उत्तर गोस्वामीजीने स्वयं दे दिया है कि '*अति लाघव*''''' अर्थात् ऐसी फुर्ती की कि यह कुछ न कर सकी। अथवा, वह सीताजीकी ओर झुकी है। उसने उनको पास आते, तलवार चलाते न देखा। अथवा, समझी कि अब मुझसे डरकर मुझे मनाने, मेरे कपोल आदि स्पर्श करके मुझे प्रसन्न करने आये हैं।

नोट—२(क) चुनवती=प्रवृत्ति बढ़ानेवाली बात, उत्तेजना, ललकार, प्रचार; यथा—'*चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हे। बिचरत सबहि चुनौती दीन्हें*'। '*सूपनखा की गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी॥*' यह चुनौती है।

शूर्पणखाका नाक-कान काटना क्या अपमान है?

गौड़जी—आजकल कुछ सुधारक लोग अपनेको स्त्रीजातिपर अत्यन्त उदार दिखाते हुए यह भी कहते हैं कि 'शूर्पणखाके कान-नाक काटकर लक्ष्मणजीने बड़ा ही कठोर दण्ड दिया। वैसे ही ताड़काको मारा था तो गुरुजीकी आज्ञा थी, परंतु यहाँ श्रीरामचन्द्रजीने शूर्पणखाको क्षमा कर दिया होता तो उनको अधिक शोभा देता। स्त्रीजातिका अपमान उचित न था।' वह इस बातको भूल जाते हैं कि वह (***दुष्ट हृदय दारुण जस अहिनी***) राक्षसी थी और भयङ्कर रूप बनाकर सीताको उसने डराया और अपने विवाहके मार्गमें कण्टकरूप सीताजीको खा जानेकी धमकी दी। उसे विवाहके प्रस्तावकी ढिठाईपर यह दण्ड नहीं दिया गया। उसे दण्ड इसलिये दिया गया कि उसने मार डालनेकी, मृत्युकी धमकी दी। श्रीरामचन्द्रजीको यह निश्चय था कि मृत्युदण्डसे कममें ही वह भाग जायगी। इसीलिये उस ऋषिमांसपर वैधव्य व्यतीत करनेवाली राक्षसीको भी मृत्युदण्ड न देकर ऐसा दण्ड दिया कि उसके अपमानपर सभी सम्बन्धी राक्षस उबल पड़े। मृत्युदण्डसे खरदूषण, त्रिशिरा और रावणको उतनी उत्तेजना भी दिलानेवाला कौन मिलता जितनी उत्तेजना शूर्पणखाने दिलायी। नाक-कान काटकर छोड़ देना शूर्पणखाके साथ उतनी ही रिआयत थी जितनी जयन्तके साथ की गयी थी। क्षमा-याचना शूर्पणखाने कब की जो उसे दी जाती? जो मुकाबलेमें आकर युद्ध करना चाहे, उसका सामना न करके उसकी याचनाके विपरीत ही उसे क्षमा करना तो कायरता है।

राम-रावणयुद्धका हेतु पैदा करने, लीलाका अङ्ग सम्पन्न करनेके लिये यह बीजारोपण था। शूर्पणखाके हाथसे रावणको मानो चुनौती दी गयी थी। अगर इसे रावणके पक्षवाले अनुचित अपमान मानें तो भी

ठीक है। यह तो भगवान्‌की ओरसे मनुष्योचित दौर्बल्यका बड़ा ही उत्तम अभिनय समझा जाना चाहिये। इस स्थलपर तो अनुपम माधुर्य प्रदर्शित होता है।

बाबू शिवनन्दनसहाय—कविने शूर्पणखाको निर्लज्जताकी मूर्ति खड़ी की है और लक्ष्मणके हाथसे उसकी नाक और कान कटवाकर उसे यथोचित दण्ड भी दिलवाया है। भक्त लक्ष्मणसिंहने लिखा है कि 'पिताकी प्रतिज्ञा-पालनके लिये राज-परित्याग कर देनेकी प्रशंसा नहीं करनी तो असम्भव है, परन्तु रावणके संग युद्ध करके, जिसका अपराध केवल यही मालूम होता है कि उसने अपनी बहनके प्रति अयोग्य अपमानका बदला लिया, इतने रुधिर प्रवाहको समर्थन करना दुष्कर है'। हमारे जानते यह अयोग्य अपमान तब होता जब राह चलते या बैठे-बैठे रामचन्द्र या लक्ष्मण उसकी बहनके साथ छेड़छाड़ करते, हँसी-मजाक उड़ाते या उसकी नाक-कान काटते। कोई भी सभ्य या शिष्टजन इस बातको सहन न करेगा कि जहाँ वह प्रियपत्नी, भ्राता, बन्धु या किसी औरहीके संग बैठा हो, वहाँ एक कुलकलङ्किनी कामुकी कुनारी पहुँचकर उससे प्रेमगाँठ जोड़ने—प्रीतिरीति करनेकी प्रार्थना करे, हठ करे और बलका प्रयोग करनेपर उद्यत हो जाय। लक्ष्मणने तो नाक-कान काटना उचित समझा, परन्तु हमारे भाई लक्ष्मणसिंह ऐसी अवस्थामें क्या करते? उसका आदर करते या अपमान?—यह जाननेकी हमारे पाठकोंको निश्चय बड़ी उत्कण्ठा होगी।

पं० रा० चं० दूबे—शूर्पणखाके नाक-कान कटवाना भी स्त्रीजातिका अपमान बताया जाता है, हो सकता है, पर इसमें गुसाईंजीका दोष क्या? उसके नाक-कान गोसाईंजीके जन्मसे हजारों, लाखों वर्ष पूर्व कट चुके थे। यह सजा अच्छी थी या बुरी, इसके जाँचनेका अधिकार हमको नहीं। इन बातोंमें सदा परिवर्तन होता रहता है जो आज अच्छा समझा जाता है, वही कालान्तरमें बुरा हो जाता है। आज भी अनेक दुष्टकर्मोंकी जो सजा बहुत कठोर समझी जाती है, आगे चलकर उसका असभ्यता सूचकतक समझा जाना सम्भव है। आज हम उसे ऐसा नहीं समझते, तो क्या आगामी पीढ़ियोंको इस समयके लोगोंको ऐसा दंड देनेपर खरा-खोटा कहना अच्छा होगा। एक बात और विचारणीय है; वह यह कि क्या जिसको हम सभ्यदंड कहते हैं, उससे हमारी इष्ट-सिद्धि होती है? जेलखाने सुधारघर हैं या दुराचार और अनाचारकी पाठशालाएँ? कितने अभियुक्त जेलखानेकी हवा खाकर सुधरकर निकलते हैं और भविष्यमें निन्दित कर्मोंसे बचते हैं? यदि बहुत कम तो फिर क्यों उस पुराने दण्डकी, जिससे एकहीके प्रति पाशविक क्रूरता होती थी पर बहुतोंको उससे शिक्षा मिलती थी और फिर वैसा करनेका साहस न होता था, निन्दा की जाय? आजके समान तब अनेक प्रकारके अनाचारोंकी वृद्धि नहीं होने दी जाती थी, जेलखानोंके ग्रामके-ग्राम नहीं बसते थे। सम्राट् अशोकके जन्मोत्सवपर केवल एक या दो बन्दी मुक्त होते थे। कारण कि होते ही बहुत कम थे। अस्तु।

हमारा आशय सिर्फ यही है कि रिवाज जिस समय प्रचलित होता है, उस समय वह साधारण प्रतीत होता है। उसके दोष जनताको दिखायी नहीं देते। वह बुरा नहीं दिखायी देता। आज भी यही है।

सभ्यता-अभिमानी अमेरिकानिवासियोंको 'लिंच ला' (Lynch Law) में कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता है। वह न्याययुक्त और गुणमय ही दिखायी देता है। दूसरेकी आँखोंमें वह काँटेके समान खटकता है, अन्यायमूलक और पाशविक प्रतीत होता है।

जैसे पुरुषोंको कामका चेरा बताया है और यहाँतक कह डाला है *'नहिं मानहिं कोउ अनुजा तनुजा'* तो फिर यदि—*'सूपनखा रावन की बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी॥'* की कामान्धताका जिक्र करते हुए यह कह डाला कि—*'भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥'* तो गुसाईंजीने पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंके प्रति कौन-सा घोर अन्याय किया? वे तो दोनोंको एक ही लाठीसे हाँक रहे हैं।

मा० सं०—कुछ लोगोंका कहना है कि 'रामचन्द्रजीको चाहिये था कि शूर्पणखाकी प्रार्थना स्वीकार कर लेते। वे राजा थे, कई विवाह कर लेना उनके लिये अयोग्य न था। वरन् इसको पत्नी बना लेनेमें उनका सम्बन्ध त्रैलोक्यविजयी रावणसे हो जानेसे आगे बहुत लाभ सम्भव था।' हमारी समझमें यह शङ्का

उन्हीं लोगोंकी है जो एक पत्नीमें सन्तोष नहीं कर सकते, वा जिन्हें पाश्चात्त्य सभ्यताने मोहित कर लिया है। उनकी यह कल्पना रामायणके सम्बन्धमें निरर्थक है। एकपत्नीव्रत तो रामायणकी मुख्य शिक्षाओंमेंसे है। राजा दशरथकी यदि कई रानियाँ न होतीं तो श्रीरामचन्द्रजीका वनवास क्यों होता? और, यदि पुरुषोत्तम श्रीरामजी बहुपत्नीवान् होते तो निश्चय ही आज शङ्का करनेवाले यह प्रमाणित करते कि उन्हों (रामजी) ने अपने घरके ही अनुभवसे कुछ लाभ नहीं उठाया। आजकलकी दृष्टिसे भी यह प्रश्न मूर्खताका है क्योंकि आज भी पच्छाहीं रोशनीवाले दोनों पक्षोंका रजामन्दीसे ही विवाह होना न्याय-सङ्गत मानते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्गमें न श्रीरामचन्द्रजी राजी हैं न श्रीलक्ष्मणजी। इसलिये विवाहका सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है? यदि कहा जाय कि भगवद्विभूतियोंपर मोहित होना भक्तिका एक प्रकार है और भगवान्‌को भक्तका भी उद्धार करना चाहिये, नहीं तो भगवद्‌गुणोंमें एक त्रुटि-सी पायी जाती है। तो इसका उत्तर यह है कि वर्तमान समयमें भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम हैं, उनपर मोहित होनेसे सद्‌गति अवश्य होती है और यदि नीच वासनासे भी कोई भगवान्‌के निकट पहुँचे तो भी उसका भला हुए बिना नहीं रह सकता। जनकपुरमें दोनों बन्धुओंके रूपपर नगरकी सभी स्त्रियाँ मोहित हो गयी थीं और उनमेंसे अनेकोंने भगवान्‌को पतिभावसे भी देखा था; परन्तु भगवान्‌ने इस भावसे किसीको न देखा। श्रीरामावतारमें एकपत्नीव्रतकी मर्यादा है परन्तु इन मोहित हो जानेवालोंके भावकी रक्षा भगवान्‌ने अपने कृष्णावतारमें की, जिसमें रामावतारमें उनपर मोहित होनेवाली स्त्रियाँ जो पत्नीत्व नहीं चाहती थीं वरन् केवल सखीत्वकी अभिलाषिणी थीं वे गोपियाँ हुईं और जो पत्नीत्वकी अभिलाषिणी थीं वे सब रानियाँ हुईं। कहा जाता है कि गर्गसंहितामें शूर्पणखाके विषयमें विस्तृत कथा है। श्रीरामचन्द्रजीने उससे कह दिया था कि इस अवतारमें हम तुम्हें ग्रहण नहीं कर सकते, अगले अवतारमें तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करेंगे। वही शूर्पणखा कुब्जा हुई। करुणासिंधुजीने भी ऐसा ही लिखा है कि वह द्वापरमें कुबरी हुई। इस प्रकार भगवान्‌ने उसकी अभिलाषा भी पूर्ण कर दी। शङ्का करनेवाले महानुभावको यह जानकर आशा है कि संतोष हो।

नोट—३ ऐसी शङ्का करनेवाले भूल जाते हैं कि यह मर्यादापुरुषोत्तम अवतार है, इसमें एकपत्नीव्रतकी मर्यादा स्थापित की गयी है। श्रीरामजी ही नहीं वरन् उनके सब भाई, परिजन और सारी प्रजा एकपत्नीव्रत थी—*'एक नारि ब्रत रत सब झारी।'*

देखिये सीतावियोगके लगभग १००० वर्ष बादतक वे बिना स्त्रीके रहे पर उन्होंने दूसरा विवाह न किया। यह व्रत पराकाष्ठाको पहुँच जाता है। जब हम सोचते हैं कि यज्ञोंके समय जब ऋषियोंने उनसे दूसरा विवाह कर लेनेकी राय दी तब भी उन्होंने उसे स्वीकार न किया और यज्ञके लिये स्वर्णकी सीता बनायी गयीं।

शूर्पणखा विधवा है। परस्त्रीको माताके समान देखना शास्त्राज्ञा है—**'मातृवत्परदारेषु'**, *'जननी सम देखहिं परनारी।'* उन्होंने स्वप्नमें भी परायी स्त्रीपर दृष्टि नहीं डाली तब इसको कैसे स्त्री बनाते। अच्छा दूसरी दृष्टिसे भी देखिये—शूर्पणखा दोनों राजकुमारोंपर मोहित हुई है। वह पहले श्रीरामजीके पास गयी तब उन्होंने उसे लक्ष्मणजीके पास भेज दिया। यहाँ उसकी परीक्षा भी हो गयी। यदि वह सत्य ही विवाह करने आयी थी तो लक्ष्मणजीके पास न जाती, यही कहती कि मैंने तो आपके लिये आत्मसमर्पण कर दिया है, अब और कहाँ जा सकती हूँ? पर वह कामकी चेरी उनको छोड़ लक्ष्मणजीके पास जाती है। फिर वहाँसे यहाँ आती है। श्रीरामजीसे विवाह करने आयी, अतः लक्ष्मणजीके लिये वह मातारूप है। उसे वे कैसे ग्रहण करते और लक्ष्मणजीको पति बनाने गयी, अतः वह अनुजवधू-सरीखी हुई। उसे रामजी कैसे ग्रहण करते—वह तो कन्या-समान हुई। दोनोंको पति बनाना चाहा; अतः स्पष्ट है कि वह निर्लज्जा है, कुलटा है।

इतनेपर भी प्रभु उसे क्षमा ही करते रहे, क्योंकि वे तो *'निज अपराध रिसाहिं न काऊ।'* पर जब वह श्रीसीताजीको खाने दौड़ी और वे भयभीत हो गयीं तब इस आततायिनीके अपराधको वे न

सह सके—*'जो अपराध भगत कर करई। रामरोष पावक सो जरई॥'* फिर भी उसको प्राणदण्ड न दिया गया। स्त्री जानकर केवल इतना ही दण्ड दिया गया जो आजकल भी नेपाल आदि रजवाड़ोंमें दिया जाता है। वाल्मीकीयमें इसका प्रमाण है कि ऐसी स्त्रियोंके लिये उस समय यही दण्ड था। उदाहरणमें वाल्मी० आ० स० ६९। ११—१८ प्रमाण है। अयोमुखी नामकी एक राक्षसी आकर लक्ष्मणजीके लिपट गयी और बोली कि आओ हम, तुम इस वनमें आयुपर्यन्त रमण करें। इसपर लक्ष्मणजीने उसके नाक-कान काट डाले। जो राजाका कर्तव्य है वही दण्ड शूर्पणखाको भी मिला।

एक महानुभाव शूर्पणखाके नाक-कान काटनेके सम्बन्धमें यह कहते थे कि वह पुलस्त्यकुलोद्भव होनेसे ब्राह्मणी हुई और प्रभु क्षत्रिय हैं। क्षत्रिय ब्राह्मणीके साथ विवाह नहीं कर सकता। अतः उन्होंने इसकी प्रार्थना स्वीकार न की। ऐसा विवाह प्रातिलोम्य विवाह कहलाता है और उसके लिये यही दण्ड देना राजाका कर्तव्य है। यथा—**'सजातावुत्तमो दण्ड आनुलोम्ये तु मध्यमः। प्रतिलोम्ये वधः पुंसो नार्याः कर्णादिकर्त्तनम्॥'** (याज्ञवल्क्यः)

☞ दूसरी कल्पना कि त्रैलोक्यपतिको रावणसे लाभ पहुँचता उपहासास्पद है।—(सम्पादक)

नोट—प्राण न लेनेमें एक रहस्य अवतारके कार्यका भी है। रावणका उसके परिवारसहित उद्धार करना है। इसके द्वारा वह कार्य करना है। जैसे मारीचका वध न करके उसे प्रभुने लंकामें पहुँचा दिया था, क्योंकि उससे सीताहरण आदि लीलामें काम लेना था।

मुं० हरिजनलालजी—कुछ अनभिज्ञ लोग शूर्पणखाके कर्ण-नासिकाके काटे जानेको श्रीरघुनाथजीके परमोज्ज्वल चरितमें धब्बा मानते हैं। यहाँतक भी कह डालनेमें उनको संकोच नहीं होता कि—'प्रथम अपराधका आरम्भ श्रीरामजीहीकी ओरसे हुआ। उन्होंने अनायास रावणकी भगिनीके नाक-कान काट लिये। ऐसे अहित और अनर्थपर यदि रावणने उनकी स्त्रीका हरण किया तो क्या अपराध किया? अतएव रावण अपराधी नहीं कहा जा सकता।

वर्तमान-समयानुसार उत्तर यह है कि उनका यह अनुमान सर्वथा अयोग्य है। श्रीरामजीने शूर्पणखा तथा रावण दोनोंका परम हित किया है, अहित नहीं किया। शूर्पणखा विधवा थी। उसके पतिको स्वयं रावणने मार डाला था; यह कथा वाल्मीकि आदि रामायणोंमें सविस्तर दी हुई है। वह शूर्पणखा महात्मा रावण ऐसे प्रतापी वीर पुरुषकी बहिन होकर भी अपने वैधव्य धर्मके विरुद्ध काम करने तथा रावणके अनुपम पौरुष और प्रतापजनित सुयशको कलङ्कित करके उपहास करनेको उद्यत हुई थी। अर्थात् कामविवश हो पर-पुरुषसे प्रसङ्ग किया चाहती थी। इस अनर्थसे रोकनेके निमित्त उसके नाक-कान काटे गये। इसका कारण यह है कि स्त्रियोंका धन स्वरूप है और स्वरूपमें प्रधान अङ्ग नासिका है जिसके बिना स्त्री कुरूप हो जाती है फिर उसे कोई ग्रहण नहीं करता; इस तरह वह पर-पुरुष-प्रसङ्गसे बच जाती है। इसी विचारसे नाक-कान काटे गये, जिसमें उसका वैधव्य धर्म सुरक्षित और रावणका सुयश सुरक्षित तथा प्रशंसनीय बना रहे, उपहासके योग्य न हो। परन्तु रावणने इस परमोपकारको न समझकर रघुनाथजीके साथ धृष्टता की; अतएव सुजान समाज रावणहीको दोषका भागी कहते आ रहे हैं और कहेंगे। मारीचने रावणसे यही कहा था कि शूर्पणखा उनके पास गयी ही क्यों थी? अर्थात् उसका उनके पास जाना राक्षसकुलकी मर्यादाका तोड़ना था।

खर-दूषण-वध-प्रकरण

नाक कान बिनु भइ बिकरारा। जनु स्रव सैल गेरु कै धारा॥ १॥
खरदूषन पहिं गइ बिलपाता। धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता॥ २॥
तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई। जातुधान सुनि सेन बनाई॥ ३॥

अर्थ—बिना नाक-कानके वह बहुत ही कराल दिखने लगी। उसके शरीरसे रुधिर इस प्रकार बहने लगा मानो (काले) पर्वतसे गेरूकी धारा बह रही हो॥ १॥ विलाप करती हुई वह खर-दूषणके पास

गयी। (और बोली—) अरे भाई! तेरे पुरुषार्थ और बलको धिक्कार है, धिक्कार है॥ २॥ उन्होंने उससे पूछा (कि क्या बात है कह, तब) उसने सब समझाकर कहा। निशाचरने सुनकर सेना सजी॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'भइ बिकरारा'* इति। भाव कि कराल तो पूर्व ही थी, अब नाक-कान काटनेसे विशेष कराल हो गयी, क्योंकि रक्तकी तीन धाराएँ चल रही हैं। बिकरार=बिकराल। र और लका सावर्ण्य होनेसे 'ल' का 'र' कर लिया गया। यथा—*'अस्थि सैल सरिता नस जारा।'* (५। १५)

प० प० प्र०—१ (क) बिकराला शब्द न देकर यहाँ बिकरारा लिखनेसे ओज बढ़ गया। 'ल' मृदु है और (क) के अनन्तर आनेवाला 'रा' कठोर है। (क) *'जनु स्रव सैल'*—यहाँ शैलके साथ कज्जल शब्द न होनेसे पाया जाता है कि वह रावणादि निशाचरोंके समान काली न थी। 'शैल' शब्दसे उसकी विशालता और भयावनता आदि बतायी गयी।

गौड़जी—'बिलपाता' शब्दपर भी लोग शङ्का करते हैं कि 'बिलपाती' क्यों नहीं? यदि अन्त्यानुप्रासकी अन्तिम बढ़ी हुई मात्रा छोड़ दें तो अन्वय इस प्रकार होता है—*'खरदूषन पहिं (एहि प्रकार) बिलपत वा बिलपात गई (कि हे) भ्राता धिग धिग तव बल पौरुष।'* इस गद्यरूपके देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि बिलपात, बिलपत, बिलषात, बिलषत, रोवत, नाचत, गावत, कहत, बोलत आदि अपूर्ण या असमाप्त क्रियाओंमें लिङ्गभेदके चिह्नकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती; इसलिये यहाँ कोई अशुद्धि नहीं है और बिलपाताकी जगह बिलपाती नहीं चाहिये।

नोट—१ (क) *'बिलपाता'* का भाव कि अनाथकी नाईं विलाप कर रही थी। यथा—'**अनाथवद्विलपसि किं नु नाथे मयि स्थिते।**' (वाल्मी० ३। २१। ५) (ये खरके वाक्य हैं कि मैं तेरा रक्षक हूँ, तब तू अनाथकी तरह क्यों विलाप कर रही है?) (ख) *'धिग धिग'* अर्थात् तुम्हारे बल-पराक्रमके रहते हुए कोई मेरी अनाथकी-सी दशा कर डाले, यह लज्जाकी बात है। यथा—*'तोहि जियत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ॥'* (३। २१) तुमने अपनेको व्यर्थ ही पराक्रमी समझ रखा है, तुम्हें अपनी शूरताका केवल अहंकार है, तुम शूर नहीं हो, कुलकलंक हो, यथा—'**शूरमानी न शूरस्त्वं मिथ्यारोपितविक्रमः॥**'(१७)।·····।' (सर्ग २१) ये सब भाव 'धिग-धिग' के हैं।

पुरुषार्थ और बल दो बातें हैं, अतः इसमें पुनरुक्ति नहीं है। पुरुषार्थ पुरुषत्व और पराक्रमवाचक है और बलमें सेनाका बल एवं शारीरिक बलका भाव है। वा, यदि एक ही अर्थ भी मान लें तो भी क्रोधके आवेशमें पुनरुक्ति नहीं मानी जायगी। (प्र०)

टिप्पणी—२ *'तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई।'* इति। *'बुझाई'* अर्थात् बताया कि दो भाई हैं, सुन्दर स्त्री संगमें है, बड़े वीर जान पड़ते हैं, शस्त्र धारण किये हैं, इत्यादि। यहाँ कविने विस्तारसे नहीं लिखा, क्योंकि आगे रावणसे यह फिर कहेगी; वहीं लिखेंगे।

नोट—२ (क) *'तेहि पूछा सब'* इति। वाल्मीकीय तथा अध्यात्ममें लिखा है कि वह उनके सामने जाकर पृथ्वीपर गिर पड़ी और भयानक चीत्कार करती हुई रोने लगी। तब खरको उसकी दशा देखकर बड़ा क्रोध आया और उसने कहा कि सब बात कह, घबड़ाहटको दूर करके होशमें आकर बता कि तुझे किसने विरूप किया। तू तो बल और पराक्रमसे सम्पन्न है, इच्छानुसार रूप धारणकर जहाँ चाहे जा सकती है और स्वयं यमराजके समान है, किसके पास गयी थी, जिसने तेरी यह दुर्गति की? कौन ऐसा पराक्रमी है? इस लोकमें तो कोई ऐसा है नहीं और स्वर्गमें इन्द्रका भी साहस ऐसा नहीं पड़ सकता कि वह मेरा अप्रिय कर सके, तब बता तो सही कि विषैले काले सर्पके साथ कौन खेल रहा है?·····इत्यादि जो (वाल्मी० ३। १९। २—१२) में कहा है वह सब *'तेहि पूछा'* में आ गया। (ख) *'सब कहेसि बुझाई'* में उपर्युक्त बातोंके अतिरिक्त यह भी आ गया कि उनके साथ जो स्त्री है उसीके कारण दोनोंने मिलकर मेरी यह दशा की है जैसी अनाथा असतीकी होती है। यथा—'**ताभ्यामुभाभ्यां संभूय प्रमदामधिकृत्यताम्। इमामवस्थां नीताहं यथाऽनाथाऽसती तथा॥**'(वाल्मी० ३। १९। १८) (ग) *'सेन बनाई'* से सूचित हुआ कि

परम पराक्रमी है जिसने ऐसा साहस किया है, ऐसा अनुमान करके सेना सुसज्जित करके चले। इन शब्दोंसे वाल्मी० सर्ग २२ श्लोक ८से १९ तकके भाव आ गये कि खरने दूषणसे कहा कि हमारे समर-विजयी चौदह हजार राक्षसोंको सब युद्ध-सामग्रियोंसे सुसज्जित करके ले आओ। इत्यादि।

धाए निसिचर निकर बरूथा। जनु सपच्छ कज्जल गिरि जूथा॥ ४॥
नाना बाहन नानाकारा। नानायुधधर घोर अपारा॥ ५॥
सूपनखा आगे करि लीनी। असुभ रूप श्रुति नासा हीनी॥ ६॥
असगुन अमित होहिं भयकारी। गनहिं न मृत्यु बिबस सब झारी॥ ७॥
गर्जहिं तर्जहिं गगन उड़ाहीं। देखि कटकु भट अति हरषाहीं॥ ८॥
कोउ कह जिअत धरहु द्वौ भाई। धरि मारहु तिय लेहु छड़ाई॥ ९॥

अर्थ—राक्षसोंके समूह झुण्ड-के-झुण्ड दौड़े मानो पक्षयुत काजलके पर्वतोंके झुण्ड हों॥ ४॥ अनेक आकारके अनेक वाहन (सवारियाँ जैसे रथ, घोड़े, हाथी, ऊँट आदि), अनेक प्रकारके अगणित भयङ्कर अस्त्र-शस्त्र धारण किये हैं॥ ५॥ अमङ्गलरूपिणी नाक-कान कटी हुई अर्थात् नकटी बूची शूर्पणखाको उन्होंने आगे कर लिया॥ ६॥ अगणित भय देनेवाले अपशकुन हो रहे हैं, पर वे सब-के-सब मृत्युके वश हैं, इससे उनको कुछ नहीं गिनते॥ ७॥ गरजते हैं, दपटते हैं, आकाशमें उड़ते (उछलते) हैं, सेनाको देखकर योद्धा बहुत ही प्रसन्न होते हैं॥ ८॥ कोई कहता है कि दोनों भाइयोंको जीता ही पकड़ लो, पकड़ कर मार डालो, स्त्रीको छुड़ा लो॥ ९॥

नोट—१ (क) *'निकर बरूथा'* अर्थात् प्रत्येक सेनापति अपना-अपना दल लिये था। ऐसी अनेक टोलियाँ थीं। (ख) *'कज्जल गिरि'* कहा क्योंकि काले हैं और शरीर पर्वताकार विशाल हैं। दूसरे, इससे जनाया कि इनमें कुछ सार नहीं है। ये ऐसे नष्ट हो जायँगे जैसे पवनके झकोरेसे काजलका पहाड़ (जो साररहित है) छिन्न-भिन्न हो जाय'। (करु०) पुनः, इससे महातमोगुणी जनाया। (ग) *'नानायुध धर घोर अपारा'* इति। यथा—'**मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः सुतीक्ष्णैश्च परश्वधैः। खड्गैश्चक्रैरथस्थैश्च भ्राजमानैः सतोमरैः॥ १८॥ शक्तिभिः परिघैर्घोरैरतिमात्रैश्च कार्मुकैः। गदासिमुसलैर्वज्रैर्गृहीतैर्भीमदर्शनैः॥ राक्षसानां सुघोराणां सहस्राणि चतुर्दश। निर्यातानि जनस्थानात्खरचित्तानुवर्तिनाम्॥**' (वाल्मी० सर्ग २२। १८—२०)। अर्थात् मुद्गर, पट्टिश, तीक्ष्ण शूल, परश्वध, खड्ग, चक्र और चमकीले तोमर रथपर रखे हुए थे। शक्ति, भयानक परिघ, अनेक धनुष, गदा, तलवार, मुसल और वज्रको जो देखनेमें भयानक थे, लिये हुए थे। ऐसे चौदह हजार राक्षस जो परम आज्ञाकारी थे जनस्थानसे निकले।

टिप्पणी १—*'सूपनखा आगे करि लीनी'* इति। (क) यह अपशकुन उन्होंने अपनी ही ओरसे कर लिया और सब प्रारब्धवश हुए। समस्त अपशकुनोंके पहले इसीको नाम लेकर गिनाकर सूचित किया कि समस्त अपर अपशकुनोंसे इसका आगे होना अधिक अपशकुन है। (ख) आगे करनेका कारण यह है कि शत्रुका पता चलकर बतावे।

टिप्पणी—२ *'असगुन अमित होहिं भयकारी। गनहिं न'.....।'* इति। कालके वश होनेसे बुद्धि-विचार नहीं रह जाते, यथा—*'काल दंड गहि काहु न मारा। हरै धर्म बल बुद्धि बिचारा॥'* (६। ३६) इसीसे *'गनहिं न'*। रावणको भी इसी प्रकार अपशकुन हुए थे। उससे मिलान कीजिये। भटोंका सवारीपरसे गिरना, घोड़े-हाथियोंका चिंघाड़ कर पीछे भागना, अस्त्र-शस्त्रका हाथसे गिरना इत्यादि अपशकुन हैं। यथा—*'असगुन अमित होहिं तेहि काला। गनै न भुजबल गर्ब बिसाला॥'* (६। ७७। ९) *'अति गर्ब गनै न सगुन असगुन स्रवहिं आयुध हाथ ते। भट गिरत रथ ते बाजि गज चिक्करत भाजहिं साथ ते॥ गोमाय गीध कराल खर रव स्वान बोलहिं अति घने। जनु कालदूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने॥'*

नोट—२ (क) *'असगुन अमित होहिं'* कहकर (वाल्मी० ३। २३। श्लोक १—१८) में कहे हुए सब अपशकुन जना दिये जो संक्षेपसे ये हैं—धूसर रंगके मेघोंने लाल जलकी वृष्टि की। रथमें जुते हुए घोड़े समतल भूमिमें सहसा गिर पड़े। सूर्यके चारों ओर अंगारेके समान गोलाकार परिधि हो गयी। रथकी ध्वजापर गीध बैठ गया। भयानक मांसभक्षी पशु-पक्षी अमङ्गलसूचक शब्द करने लगे। मेघोंद्वारा भयानक रोमहर्षण अंधकार छा गया। खूनसे रँगे हुए वस्त्रके समान लाल सन्ध्या हो गयी। कंक, शृगाल, गीध, शृगाली ज्वाला निकलनेवाले मुखसे सेनाके सामने बोलने लगी। बिना पर्वके ही सूर्यग्रहण होने लगा। बिना रातके ही तारे दिखायी देने लगे। तालाबमें मछलियाँ और पक्षी छिप गये और कमल सूख गये। वृक्षोंके फलफूल नष्ट हो गये। सारिकाएँ 'चीं चीं कू चीं' शब्द करने लगीं। उल्कापात होने लगा। खरके आस-पासकी भूमि, पर्वत और वन काँपने लगे, उसकी बायीं भुजा फड़कने लगी, उसकी आँख आँसुओंसे भर जाने लगी। (ख) *'गनहिं न'* इति। यह (वाल्मी० ३। २३। १९—२६) से स्पष्ट है। खरने उत्पातोंको देखकर हँसते हुए सबसे कहा है कि मैं इनको कुछ नहीं सोचता, जैसे बलवान् दुर्बलकी चिन्ता नहीं करता। मैं क्रोध करके मृत्युको भी मार दूँगा', देवराज इन्द्रको भी मार सकता हूँ, तब उन दो मनुष्योंकी बात ही क्या? यह सुनकर सेना प्रसन्न हुई। इसका कारण बताते हैं कि *'मृत्यु बिबस सब झारी।'* यथा—'**प्रहर्षमतुलं लेभे मृत्युपाशावपाशिताः**।'(सर्ग २३ श्लोक २६) अर्थात् वे सब अत्यन्त प्रसन्न हुए क्योंकि उनपर मृत्युकी छाया पड़ चुकी थी।

टिप्पणी—३ *'गर्जहिं तर्जहिं.....'* इति। अपशकुन होनेसे उत्साह भङ्ग हो जाता है, पर इनका उत्साह भङ्ग न हुआ, वरन् इनका उत्साह बढ़ता ही जाता है। *'गर्जहिं तर्जहिं.....'* से जनाया कि उत्साहसे पूर्ण हैं। इसका कारण कवि स्वयं बताते हैं कि अपशकुनकी पर्वा नहीं करते क्योंकि *'मृत्यु बिबस सब झारी'*, *'अति हरषाहीं'* का भाव कि सारी सेनाको हर्ष है, पर जो भट हैं उन्हें *'अति हर्ष'* है।

टिप्पणी—४ *'कोउ कह जिअत धरहु दोउ भाई।.....'* इति। भाव कि उनको पूर्ण विश्वास है और वे निश्चय किये हुए हैं कि हम दोनोंका वध करेंगे, इसीसे ऐसा कह रहे हैं कि *'जिअत धरहु'*, *'धरि मारहु'* और *'तिय लेहु छड़ाई।'* उन्होंने बड़ा भारी अपराध किया है, वधके योग्य हैं, पर शस्त्रास्त्रसे तुरत मर जायँगे, कष्ट न होगा, अतएव पकड़ लो, क्लेश भोगवा-भोगवाकर प्राण लेना चाहिये, स्त्री छीन लेनेसे मानसी खेद होगा जिससे आप ही मर जायँगे, यथा—*'तव प्रभु नारि बिरह बल हीना। अनुज तासु दुख दुखी मलीना॥'*

प० प० प्र०—जीवित पकड़नेमें भाव यह है कि शूर्पणखा अपने विरूप करनेवालोंके गलेका रक्तपान कर सकेगी, इससे उसका समाधान हो जायगा, वह संतुष्ट हो जायगी। *'धरि मारहु'* अर्थात् पकड़ लेनेपर भी उनका वध करना ही चाहिये, नहीं तो पीछे वे न जाने क्या उपद्रव करें।

धूरि पूरि नभमंडल रहा। राम बोलाइ अनुज सन कहा॥ १०॥
लै जानकिहि जाहु गिरिकंदर। आवा निसिचर कटकु भयंकर॥ ११॥
रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी। चले सहित श्री सर धनु पानी॥ १२॥
देखि राम रिपु दल चलि आवा। बिहसि कठिन कोदंड चढ़ावा॥ १३॥

अर्थ—आकाशमण्डल धूलसे भर गया (तब) श्रीरामजीने भाईको बुलाकर कहा॥ १०॥ जानकीजीको लेकर तुम पर्वतकी कन्दरामें चले जाओ, क्योंकि निशाचरोंकी भयङ्कर सेना आ गयी है॥ ११॥ सचेत रहना। प्रभुके वचन सुनकर लक्ष्मणजी श्रीजानकीजीसहित हाथोंमें धनुष-बाण लिये हुए चले॥ १२॥ यह देखकर कि शत्रुका दल चलकर आ गया श्रीरामचन्द्रजीने हँसकर कठिन धनुष चढ़ाया॥ १३॥

नोट—१ (क) *'धूरि पूरि नभमंडल रहा।......'* इति। वाल्मीकीय और अध्यात्ममें उत्पातोंको देख और राक्षसोंके गर्जन तथा भेरी आदिकी ध्वनि सुनकर लक्ष्मणजीसे कन्दरामें जानेकी बात कही है। मानसमें

आकाशको (राक्षसोंकी भारी सेनासे उड़ी हुई) धूलसे पूर्ण देखकर कहा है। (ख) *'बोलाइ'* से जनाया कि लक्ष्मणजी कुछ दूरीपर बैठे हुए हैं पर इतनी ही दूर हैं कि साधारण स्वरसे बुलानेसे सुन सकें।

प० प० प्र०—*'धूरि पूरि'*……'॥ १०॥ के दोनों चरणोंमें भी १५-१५ मात्राएँ हैं। धूल देखकर उधरसे राक्षसोंकी बड़ी सेनाका आगमन निश्चय कर एक ओर तो श्रीरामजीको चिन्ता उत्पन्न हुई कि श्रीजानकीजी भयभीत हो जायँगी, इनकी रक्षाका उपाय करना चाहिये और दूसरी ओर चित्तमें बड़ा आनन्द हो रहा है कि निशाचरोंके विनाशकी प्रतिज्ञा सत्य करनेका बड़ा ही सुन्दर अवसर प्राप्त हो गया। श्रीसीताजीकी चिन्तासे एक क्षण श्रीरामजी स्तम्भित हो गये—*'भगत बछलता हिय हुलसानी।'* तत्काल ही उसका उपाय मनमें आते ही आनन्द तथा वीररससे सात्त्विक भाव प्रकट हो गये। यथा—*'……रन भिरत'…' जिन्हहि न पुलक तन ते जग जीवत जाय।'* (दोहावली ४२३)—ये सब भाव यहाँ केवल एक मात्राकी न्यूनतासे प्रकट होते हैं। यह कविकला कौशल है।

टिप्पणी—१ *'लै जानकिहि जाहु गिरिकंदर'* इति। श्रीसीताजीसे घरपर रहनेके लिये कहते हुए प्रभुने कहा था कि *'डरपहिं धीर गहन सुधि आए। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाए॥'* अर्थात् तुम स्वाभाविक ही डरपोक हो, अतएव लक्ष्मणजीसे कहा कि इन्हें कन्दरामें ले जाओ जिसमें हमारा और निशाचरोंका युद्ध इनको न देख पड़े। (अभी शूर्पणखाका भयङ्कररूप देखकर भयभीय हो ही चुकी हैं और अब तो अनेक विकट राक्षस आ रहे हैं)।

नोट—२ (क) श्रीसीताजीको लक्ष्मणजीके साथ भेजनेका कारण यह है कि इनके रहनेसे आपत्तिकी विशेष आशङ्का है आपत्तिकी आशङ्का होनेपर अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले बुद्धिमान् पुरुषको पहलेसे ही उसका उपाय कर लेना चाहिये, ऐसा विधान है। यथा—**'अनागतविधानं तु कर्तव्यं शुभमिच्छता। आपदा शङ्कमानेन पुरुषेण विपश्चिता॥'**(वाल्मी० ३। २४। ११) अतएव लक्ष्मणजीको आज्ञा दी कि श्रीजानकीजीको कन्दरामें ले जाओ। यथा—**'तस्माद् गृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्धरः। गुहामाश्रय शैलस्य दुर्गां पादपसंकुलाम्॥'** (श्लोक १२) कन्दरामें जानेको कहा, क्योंकि वहाँ पर्वत हैं और उनमें छिपनेके लिये ऐसी भी गुफाएँ हैं जहाँ सबका पहुँच सकना बहुत दुर्लभ है। और कोई स्थान वहाँ ऐसा नहीं है। (मा० सं०)

(ख) *'रहेहु सजग'* अर्थात् तुम्हारे रहनेके स्थानका पता कोई न पा सके, श्रीजानकीजीको उन राक्षसोंका दर्शन न होने पावे तथा किसीपर विश्वास न करना, क्योंकि राक्षस बड़े मायावी होते हैं इत्यादि सब तरह सावधान रहना। (प० प० प्र०)

(ग) लक्ष्मणजीको क्यों भेज दिया? उत्तर—क्योंकि श्रीसीताजीको कन्दरामें अकेली नहीं छोड़ सकते, न जाने कोई निशाचर वहाँ पहुँच जाय। दूसरे, यहाँ नीति भी काममें लाये हैं। लक्ष्मणजीने नाक-कान काटे हैं, इन्हींसे वे लड़ पड़ेंगे और ये निशाचर उनके हाथसे मरेंगे नहीं। तीसरे उन राक्षसोंको एवं शूर्पणखाको अपना पराक्रम दिखाना है जिसमें वह रावणसे जाकर कहे। (पं०) चौथे, श्रीरामजी इन सबोंको स्वयं मारना चाहते हैं, यद्यपि लक्ष्मणजी सबको मार सकते हैं। यथा—**'त्वं हि शूरश्च बलवान्हन्या एतान्न संशयः। स्वयं निहन्तुमिच्छामि सर्वानेव निशाचरान्॥'**(वाल्मी० ३। २४। १४)

टिप्पणी—२ (क) *'रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी। चले'*…………' इति। दो आज्ञाएँ दी गयीं। एक तो यह कि जानकीजीको कन्दरामें ले जाओ, दूसरी कि 'सजग रहना' लक्ष्मणजीने दोनोंका पालन किया। *'लैं जानकिहि जाहु'* अतः चले *'सहित श्री'*। *'रहेहु सजग'* अतः *'सर धनु पानी।'* हाथमें धनुष-बाण लेनेसे 'सजगता' दिखा दी। (ख) *'सुनि प्रभु कै बानी चले'*—फिर दुबारा कहनेका मौका न दिया, न कुछ उत्तर दिया; क्योंकि *'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवकु लखि लाज लजाई॥'* (२। २६९) दूसरे प्रभुकी आज्ञा 'अपेल' है, यथा—*'प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।'* (५। ५९) कोई उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता, यथा—*'राम रजाइ सीस सबही कें।'* (२। २५४) लक्ष्मणजी रामस्वभाव जानते हैं, अतः वचन सुनते ही उन्होंने आज्ञाका पालन किया। ['प्रभु' शब्दका भाव कि इनकी आज्ञाका पालन ही कर्तव्य है धर्म है, कुछ भी बोलना, जैसे कि आप जायँ, मैं ही इनका नाश आपके प्रतापसे कर दूँगा, अनुचित है। ☞ यहाँ सेवक-

धर्मका उपदेश है 'आज्ञापालनं सेवकानां धर्मः।' (प० प० प्र०)]

प० प० प्र०—*'चले सहित श्री*.....' इति। 'चले' अर्थात् अविलम्ब शीघ्रतासे चले। यहाँ '*श्री*' की जगह 'सिय' लिखते तो अनुप्रास अधिक सुन्दर हो जाता पर कविने ऐसा न करके हेतुपूर्वक 'श्री' शब्द दिया। इससे वे जनाते हैं कि यहाँ वक्ता काकभुशुण्डिजी हैं (जैसा पूर्वके *'भ्राता पिता पुत्र उरगारी'* से स्पष्ट है)। और यह कथा भुशुण्डिजीवाले कल्पकी है।

टिप्पणी—३ *'देखि राम रिपु दल चलि आवा। बिहँसि'* इति। (क) प्रथम धूलि उड़ती हुई देखकर मालूम हुआ कि निशाचर-कटक आ रहा है, यथा—*'धूरि पूरि नभमंडल रहा'''आवा निसिचर''''''।'*; अब ध्वजा-पताका आदि दिखायी दिये। (ख) *'बिहँसि'* से उत्साहकी वृद्धि जनायी—(१) उत्साह हुआ, भय नहीं है; क्योंकि क्षत्रिय हैं—*'छत्रिय तन धरि समर सकाना। कुल कलंकु तेहि पावँर आना॥'* (१। २८४) (२) आगे प्रभु कहेंगे *'हम छत्री मृगया बन करहीं।'*(१९। ९) बिहँसकर जनाया कि मानो बहुत अच्छा शिकार आ गया। पुनः, (३) कठिन कोदण्डको *'बिहँसि चढ़ावा'* अर्थात् कुछ श्रम नहीं हुआ। पुनः, (४) *'बिहँसि'* से अन्तःकरणमें कृपा सूचित की और 'कोदण्ड' चढ़ाकर बाहरसे कठोरता दिखायी, यथा—*'चितइ कृपा करि राजिव नयना।'* पुनः, (५) बिहँसे क्योंकि *'जिमि अरुनोपल निकर निहारी। धावहिं सठ खग मांस अहारी॥ चोंच भंग दुख तिन्हहिं न सूझा। तिमि धाए मनुजाद अबूझा॥'* (६। ३९) अर्थात् इनकी मूर्खतापर हँसे कि इनको यही सूझ रहा है कि साधारण मनुष्य हैं, इनको शीघ्र ही हम मारकर खा डालेंगे, यदि प्रभाव जानते तो इस तरह न दौड़े आते। पुनः, (६) जो प्रतिज्ञा की उसका विधान अब आ बना, रावणसे युद्धका आज श्रीगणेश हुआ, क्योंकि खर-दूषण रावणकी सीमाके रक्षक हैं। अतः हँसे। पुनः, (७) खर्रा—बिहँसे कि हमारे स्वरूपको नहीं जानते, इसीसे लड़ने आये हैं।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—*'बिहँसि कठिन'*.....' के भाव कि—(क) हास माया है। बहुत-से अवसरोंपर जब-जब श्रीरामजी बिहँसे हैं तब-तब योगमायाका प्रसार अथवा आकर्षण किया गया है। यथा—*'बोले बिहँसि चराचर राया। बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया॥'* (१। १२८। ६) (नारद-मोह), *'बोले बिहँसि राम मृदुबानी।'* (१। ५३) (सतीमोह), *'भ्रम तें चकित राम मोहि देखा। बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा॥'*(७। ७९) (भुशुण्डि-मोह), *'देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर। बिहँसत ही मुख बाहर आयउँ सुनु मति धीर॥'*(७। ८२) (भुशुण्डि-मोह-मुक्ति) इससे यह स्पष्ट है कि प्रभुने रिपुपर अपनी मायाको प्रेरित किया। वा, (ख) उस दुष्टा कामी व्यभिचारिणी स्त्रीका पक्ष लेकर ये सब व्यर्थ ही मारे जायँगे यह सोचकर हँसे। अथवा, (ग) इनके स्वयं चढ़ आनेसे अगस्त्यजीके *'उग्र श्राप मुनिबर कर हरहू'* और *'कीजे सकल मुनिन्ह पर दाया'* इस आज्ञाका बिना प्रयासके पालन होगा। दण्डकारण्य शापमुक्त होगा और मुनिगण निर्भय हो जायँगे, यह सोचकर हँसे। यह आनन्दसूचक हास है।

छंद—कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जट जूट बाँधत सोह क्यों।
मरकत सैल पर लरत* दामिनि कोटि सों जुग भुजग ज्यों॥
कटि कसि निषंग बिसाल भुज गहि चाप बिसिष सुधारि कै।
चितवत मनहुँ मृगराज-प्रभु गजराज घटा निहारि कै॥

शब्दार्थ—**कठिन**=जो दूसरेसे चढ़ाया न जा सके, जिसे कोई काट न सके। *घटा* =समूह।

अर्थ—कठिन धनुष चढ़ाकर सिरपर जटाओंका जूड़ा बाँधते हुए श्रीरामजी कैसे शोभित हो रहे हैं जैसे नीलमके पर्वतपर करोड़ों बिजलियोंसे दो सर्प लड़ रहे हों। कमरमें तर्कश कसकर अपने लम्बे (आजानु) हाथोंसे धनुषको पकड़कर और बाणको सुधारकर इस तरहसे प्रभु शत्रुओंकी ओर देख रहे

* लसत—को० रा०।

हैं मानो गजराजोंका समूह देखकर सिंह (उधर) देख रहा हो।

टिप्पणी—१ (क) कोदण्ड चढ़ाकर कंधेपर लटका लिया तब दोनों हाथोंसे जटाएँ बांधी। जटाएँ बाँधकर कमरमें तर्कस कसकर अपनी विशाल भुजाओंमें धनुष और तीक्ष्ण बाण सुधारकर लिया और उनकी ओर देख रहे हैं। [प्रथम कोदण्ड चढ़ाकर पीछे जटाओंका बाँधना कहकर श्रीरामजीकी सावधानता दिखायी। (प० प० प्र०) जटाएँ बाँधीं जिसमें संग्रामके समय ये नेत्रोंके आगे न आ जायँ।]

(ख) मरकतशैल और श्रीरामजीका स्यामल शरीर, करोड़ों बिजलियाँ और सुनहली जटाएँ (तपस्वी महात्माओंकी जटाओंका अग्रभाग प्रायः ललाईपन लिये होता है), सर्प और हाथ परस्पर उपमान और उपमेय हैं। दोनों हाथोंसे जटाओंको पकड़कर बाँधते हैं, यही मानो दो सर्पोंका बिजलियोंसे लड़ना है। [किसी-किसी विशेष दशामें बालोंसे बिजलीकी चिनगारियाँ वास्तवमें निकलती भी हैं। परन्तु यहाँ लटोंके अग्रभागकी चमकसे ही अभिप्राय है। (गौड़जी) इस कलियुगमें आज भी जो कोई कुण्डलिनी योगी बन जाता है उसके सिरकी जटाएँ ही नहीं किन्तु सारे शरीरके रोम भी माणिक्यके समान चमकीले हो जाते हैं यह *'चक्षुर्वै सत्यम्'* है। ज्ञानेश्वरी गीता अ० ६। २६४ भी देखिये। त्रेतामें सुवर्णके-से लाल और चमकीले होनेमें आश्चर्य क्या? जो योगी नहीं हैं, ऐसे तपस्वियोंकी जटाओंके भी अग्रभाग लाल हो जाते हैं और धूपमें सुवर्णके समान चमकते हैं। (प० प० प्र०)] (ग) *'सुधारि कै'* क्योंकि आज इनका प्रथम-प्रथम काम पड़ेगा, अभीतक रखे ही रहे थे।

२ *'चितवत मनहुँ मृगराज'''''*, यथा—*'मनहुँ मत्त गजगन निरखि सिंह किसोरहि चोप।'* (१। २६७) (श्रीसुतीक्ष्णजीके *'निसिचर करि बरूथ मृगराजः।'* (११। ३) को यहाँ चरितार्थ किया।) भाव यह कि उनके दलनका उत्साह हृदयमें पूर्ण है। वे बहुत-से हैं, अतः गजराजघटा कहा। सिंह अकेला सबको दल डालता है और यहाँ प्रभु अकेले ही सबका नाश करेंगे।

दीनजी—टवर्ग, मूर्धन्य ष, ध इत्यादि परुषावृत्तिसूचक शब्दोंका लाना तुलसीदासजीकी पूर्ण-साहित्य-मर्मज्ञता प्रकट करता है।

पु० रा० कु०—टवर्गके पाँचों अक्षर संस्कृत-काव्य ग्रन्थोंमें भी एक ही ठौर पड़ते नहीं देखनेमें आते; पर श्रीगोस्वामीजीने एक ही चरणमें देखिये 'ट, ठ, ड, ढ' चारोंको धर दिया है। *'कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट''''''।'*

सोरठा—आइ गए बगमेल धरहु धरहु धावत* सुभट।
जथा बिलोकि अकेल बालरबिहि घेरत दनुज॥ १८॥

अर्थ—बड़े-बड़े योद्धा यह कहते हुए कि पकड़ो-पकड़ो दौड़ते हुए निकट आ गये, जैसे (उदय-समयके) बालसूर्यको अकेला देखकर दैत्य घेर लेते हैं॥ १८॥

टिप्पणी—१ सवारोंकी दौड़को बगमेल कहते हैं। यथा—*'हरषि परसपर मिलन हित कछुक चले बगमेल॥'* (१। ३०५), *'बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल। सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल॥'* (३३७), *'सूर सँजोइल साजि सुबाजि सुसेल धरे बगमेल चले हैं।'* (क० ६। ३३) तथा यहाँ *'आइ गये बगमेल'* [दीनजीका मत है कि यहाँ बगमेलका अर्थ है 'निकट'। और कामदेवके प्रसङ्गमें *'मदन कीन्ह बगमेल'* में लगाम छोड़कर बेतहाशा दौड़ाते हुए ले जानेका अर्थ है। बगमेलके दोनों अर्थ हैं। जब चढ़ाईके या दौड़नेके साथ आता है तब बाग छोड़नेका अर्थ देता है। १। ३०५ भी देखिये]।

टिप्पणी—२ *'बालरबिहि घेरत दनुज।'* इति। *'रबिहि घेरत'* से जनाया कि तेजके कारण समीप नहीं आ सकते। इसीसे ये दूत भेजेंगे और जैसे रवि दनुजको जीत लेते हैं वैसे ही प्रभु इनको जीत लेंगे।

* धावहु—को० रा०।

नोट—१ हेमाद्रि आदि ग्रन्थोंमें उल्लेख है कि मंदेह नामक दैत्य प्रात:काल सूर्यको अस्त्र-शस्त्र लिये घेर लेते हैं। प्रात:-सन्ध्या करते समय जो अर्घ्य दिया जाता है अर्थात् गायत्री आदि मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित जल जो पूर्व दिशाकी ओर फेंका जाता है, उसका प्रत्येक बूँद बाणरूप होकर उन दानवोंको मारता है। ये दैत्य बीस हजार कहे जाते हैं। उसीका यहाँ रूपक है। यहाँ अकेले श्रीरामजी और १४ हजार निशाचर हैं, सबका नाश होगा, रामजीका कुछ न बिगड़ेगा। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि ब्रह्माजीने दस हजार दैत्य उत्पन्न किये और उनको शाप दिया कि तुम नित्य मरो और नित्य जियो। गायत्रीमन्त्र जाप करके जो जल देते हैं उससे ये मरते हैं।

पूर्व संस्करणमें ऐसा लिखा गया था। खोज करनेपर हमें विष्णुपुराणमें यह कथा मिली। उसमें लिखा है कि परम भयंकर सन्ध्याकाल प्राप्त होनेपर प्रतिदिन मंदेह नामक राक्षस सूर्यको खानेकी इच्छा करते हैं। ब्रह्माजीका उनको शाप है कि वे प्रतिदिन मरें पर उनका शरीर अक्षय रहे (अर्थात् वे फिर दूसरी प्रात:-सन्ध्याके पूर्व ही उसी शरीरमें जीवित हो जाया करेंगे। सूर्योदयके समय नित्यप्रति उनका सूर्यसे घोर युद्ध होता है। उस समय श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग ॐकारब्रह्मसंयुक्त गायत्रीमन्त्रसे अभिमन्त्रित जल फेंकते हैं जो उन राक्षसोंको वज्र-समान लगता है। उस जल (अर्घ्य) से वे सब राक्षस जल जाते हैं। इसलिये सन्ध्योपासनका उल्लङ्घन न करना चाहिये। जो सन्ध्या नहीं करते वे सूर्यका नाश करनेवाले हैं। यथा—'**संध्याकाले च संप्राप्ते रौद्रे परमदारुणे। मन्देहा राक्षसा घोराः सूर्यमिच्छन्ति खादितुम्॥ प्रजापतिकृतः शापस्तेषां मैत्रेय रक्षसाम्। अक्षयत्वं शरीराणां मरणं च दिने दिने॥ ततः सूर्यस्य तैर्युद्धं भवत्यत्यन्तदारुणम्। ततो द्विजोत्तमास्तोयं संक्षिपन्ति महामुने॥ ॐकारब्रह्मसंयुक्तं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम्। तेन दह्यन्ति ते पापा वज्रीभूतेन वारिणा॥ तस्मान्नोल्लङ्घनं कार्यं संध्योपासनकर्मणः। स हन्ति सूर्यं सन्ध्याया नोपास्तिं कुरुते तु यः॥**' (वि० पु० अंश २ अ० ८। ५०—५४)

नोट—२ प्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि ये दानव ब्राह्मण हैं। इससे ब्रह्महत्या पापके विनाशके लिये चतु:समुद्रवलयाङ्कित पृथ्वी-प्रदक्षिणा तान्त्रिकरीत्या, भावनासे करनी पड़ती है। '**असौ आदित्यः ब्रह्म**' ऐसा उच्चारण करते हुए पानीकी धारा (अपने चारों तरफ) मण्डलाकार गिरायी जाती है यह है आधिभौतिक अर्थ पर इसमें आध्यात्मिक अर्थ भी है।

प० प० प्र०—(१) इसमें आध्यात्मिक अर्थ है—सूर्य=आत्मा। इसके दर्शनमें विघ्न डालनेवाले दानव हमारी '**मन्द ईहाः**' विषय-वासनाएँ हैं। यथा-'***विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब शूल', होहिं विषय रत मंद मंदतर।' 'कांच किरिच बदले ते लेहीं। कर तें डारि परसमनि देहीं॥***' गायत्रीमन्त्रके अनुष्ठानसे, (समयपर यथाविधि) चित्त शुद्ध हो जाता है, दुर्वासनाओंका नाश होता है और आत्माराम-रविका दर्शन हो जाता है। (२) इस दृष्टान्तसे यह भी सूचित किया कि जैसे उन दानवोंसे सूर्यका कुछ भी बिगड़ता नहीं प्रत्युत उन्हींका क्षणमात्रमें नाश हो जाता है, वैसे ही इधर भी होनेवाला है। पाठकगण भयभीत सचिन्त न हो जायँ। (३) बालरविसे भगवान्की कोमलता और छोटी अवस्था ध्वनित की गयी। (४) बालरविके उदयके समय उसके मण्डलपर दृष्टि डालनेपर पश्चात् दस दिशाओंमें सूर्यका लाल-पीला तेज ही परिपूर्ण देखनेमें आता है वैसी ही इन राक्षसोंकी दशा हो जायगी। वे भगवान्के मुखमण्डलको टकटकी लगाये देखते ही रह जायँगे और तत्पश्चात् सब दिशाओंमें वे रामरूप ही देखते रहेंगे। (५) बालरविका तेज नेत्रोंको अल्पकाल ही सह्य होता है पश्चात् नेत्र उसके मण्डलको देखनेसे अंध-से हो जाते हैं, वैसी ही दुर्दशा सभी राक्षसोंकी होगी।

टिप्पणी—३ इस प्रसङ्गमें रसोंके उदाहरण देखिये। (१) '*रुचिर रूप*'—शृङ्गार। (२) '*बोली बचन बहुत मुसुकाई*'—हास्य। (३) '*रूप भयंकर प्रगटत भई*'—भयानक। (४) '*नाक कान बिनु भइ बिकराला*'—बीभत्स। (५) '*खर दूषन पहिं गै बिलपाता*'—करुण। (६) '*धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता*'—वीर। (७) '*तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई*'—शान्त। (८) '*सूर्पनखा आगे करि लीन्ही*'—रौद्र। (९) अद्भुत रस आगे दो० २० छंदमें '*मायानाथ अति कौतुक कर्‌यो। देखहिं परस्पर राम*'''' में है।

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी॥ १॥
सचिव बोलि बोले खरदूषन। यह कोउ नृपबालक नरभूषन॥ २॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते* हम केते॥ ३॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥ ४॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥ ५॥

अर्थ— प्रभुको देखकर वे बाण नहीं चला सकते, निशाचरसेना स्तब्ध हो गयी॥ १॥ खर-दूषणने मन्त्रीको बुलाकर कहा—ये कोई मनुष्योंमें भूषणरूप राजकुमार हैं॥ २॥ नाग, असुर, सुर, नर और मुनि जितने भी हैं, हमने कितने ही देख डाले, कितनोंको जीत लिया और कितनोंको मार डाला॥ ३॥ पर हे सब भाइयो! सुनो हमने तो जन्मभर (जबसे हम पैदा हुए तबसे आजतक) ऐसी सुन्दरता कहीं नहीं देखी॥ ४॥ यद्यपि इन्होंने हमारी बहिनको कुरूपा (बदसूरत, नकटी-बूची) कर डाला है तथापि ये उपमारहित पुरुष वध किये जानेयोग्य नहीं हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई'''* ' इति। (क) प्रभुका स्वरूप माधुर्य-ऐसा ही है,' रूपको देखा नहीं कि मन उसीमें डूब गया, मोहिनी पड़ गयी। यथा—*'रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥'* (१। २६९), (२) *'जिन्ह बीथिन्ह बिहरें सब भाई। थकित होहिं सब लोग लुगाई॥'* (१। २०४) (३) *'थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥'* (१। २३२।), (४) *'थके नारि नर प्रेम पियासे। मनहुँ मृगी मृग देखि दिआसे॥ '* (२। ११६।) तथा यहाँ (५) *'थकित भई रजनीचर धारी॥'* ☞आपको देखकर मार्गकी तीक्ष्ण नागिनें और बिच्छियाँ विष छोड़ देती हैं, यथा—*'जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिषु तामस तीछी॥'* (२। २६२)। तब इन राक्षसोंपर कुछ देर उसका प्रभाव पड़ा तो आश्चर्य ही क्या? अतः *'सर सकहिं न डारी।'* दूसरे, वे प्रभुका तेज देख ठिठक रहे। यथा—*'कोउ कहै तेज प्रताप पुंज चितए नहिं जात भियारे।'* (गी० १। ६६) तीसरे, रूपने मोहित कर लिया। यथा—*'रूप दीपिका निहारि मृग मृगी नर नारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइ कै।'* (गी० १। ८२) अतः *'सर सकहिं न डारी'* और *'सचिव बोलि''''*'। (ख) *धारी* =मारने-लूटनेवाली सेना। ऐसी सेना भी छबि देखकर थकित हो गयी।

प० प० प्र०—वस्तुसत्ताका प्रभाव दुष्ट राक्षसोंपर भी पड़ता है, यह यहाँ दिखाया गया है। यदि श्रीरामजीने 'बिहँस' कर अपनी मायाका प्रसार इनपर न किया होता तो कदाचित् ये लड़नेका साहस भी न करते। *'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'* यह सिद्धान्त अपेल है। 'सती-मोह, नारद-मोह, खर-दूषण-वध, रावण-मोह, गरुड़-मोह, कैकेई कुटिल-करणी' इत्यादि रामायणकी सम्पूर्ण घटनाएँ केवल इस एक सूत्रपर ही अधिष्ठित हैं। 'उन्होंने भुज उठाइ पन' किया है कि *'निसिचर हीन करौं महि'* यही उनकी इच्छा है। अतएव उसीके अनुसार उनकी माया सबको नचाती है और रावणवधतक नचायेगी।

टिप्पणी—२ *'सचिव बोलि बोले खरदूषन'''* ' इति। यह कार्य भारी समझ पड़ा; अतः मन्त्रीको ही बुलाकर भेजा कि यह काम औरसे न हो सकेगा, मन्त्री जाकर ठीक समझा देगा। पुनः, राजा समझकर प्रतिष्ठापूर्वक मन्त्रीको भेजा, यथा—*'यह कोउ नृप बालक नर भूषन।'* शूर्पणखासे सुना भी है कि राजकुमार हैं। क्योंकि लक्ष्मणजीने उसे बताया था कि *'प्रभु समरथ कोसलपुर राजा।'* नाम नहीं सुना है, इससे नाम न कहा, केवल *'नृपबालक'* कहा।

टिप्पणी—३ (क) *'नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे सुंदरताई'' ॥'* इति। सुन्दरताके विषयमें जनकपुर-वासियोंका भी यही अनुभव है यथा—*'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनियति नाहीं॥'* (१। २२०) जिसीने यह शोभा देखी वह मुग्ध हो गया। यथा—*'बालकबृंद देखि अति शोभा।*

* हने—१७०४

लगे संग लोचन मनु लोभा॥' (१। २१९) *'देखि भानुकुलभूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान।'* (१। २३३) *'पंचवटी सो गइ एक बारा। देखि बिकल भइ जुगल कुमारा॥'* (३। १६) *'खगमृग मगन देखि छबि होही। लिए चोरि चित राम बटोही॥'* (२। १२३) *'देखन कहुँ प्रभु करुनाकंदा। प्रगट भए सब जलचरबृंदा॥ तिन्ह की ओट न देखिअ बारी। मगन भये हरिरूप निहारी॥'* (६। ४) वैसे ही यहाँ राक्षस मोहित हो गये हैं। (ख) *'देखे जिते हते'* अर्थात् नाग और असुरको देखा, देवताओंको जीता और नरों एवं मुनियोंको मारा और खाया। पर इनमेंसे कहीं भी ऐसा सौन्दर्य न देखा।

टिप्पणी—४ *'जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध·····'* इति। (क) बहिनकी नाक-कान काट ली, वह कुरूपा हो गयी इस अपराधसे वे वधयोग्य हुए, यथा—*'कीन्ह मोहबस द्रोह जद्यपि तेहि कर बध उचित'*, पर ये अनूप (अनुपम पुरुष) हैं, इससे वध करना उचित नहीं। (ख) *'पुरुष अनूपा'*, यथा—*'बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी॥ अपर देउ अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिय जाही॥'* (१। २२०) *'मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं। उपमा कहुँ त्रिभुवन कोउ नाहीं॥'* (१। ३११) (यह अनुभव जनकपुरवासिनियोंका है।)

दीनजी—१ अत्यन्त शोभापर इतना मुग्ध हो गये कि बहिनका अपमान करनेपर भी नष्ट करनेकी इच्छा नहीं रह जाती। (इसीसे) *'सोभासिंधु खरारी'* इत्यादिमें *'खरारी'* शब्दका प्रयोग किया है। स्मरण रहे कि कविने कुछ शब्द मुकर्रर कर लिये हैं, जैसे कि *'सोभासिंधु खरारी'* में। अत्यन्त सुन्दरता प्रकट करनेके लिये *'खरारी'* शब्द लाते हैं। इसका प्रमाण यह प्रसङ्ग है। इसी तरह जहाँ कथाका कोई प्रसङ्ग मोड़ते हैं अर्थात् कुछ कहकर कुछ और कहना चाहते हैं वहाँ 'सन्ध्या' शब्दका प्रयोग करते हैं। जैसे, पहले अभिषेकका सामान फिर *'साँझ समय सानंद नृप।'* अर्थात् इससे जनाया कि यहाँसे प्रसंग उलटा ही होगा। इसी तरह *'संध्या भई फिरी दोउ अनी'* में रस-परिवर्तन सूचित करनेको दो विपरीत भावोंके जोड़में 'सन्ध्या' शब्दका प्रयोग किया है *'देखी नहिं असि सुन्दरताई'*—शत्रु तो सदा निन्दा ही करता है, कभी शत्रुकी प्रशंसा नहीं करता। यहाँ शत्रुके मुखसे यह एकवाल होना उनके सौन्दर्यका परिपूर्णराशि होना प्रमाणित करता है।

२ शास्त्रकी मर्यादा है कि जितने पदार्थ अद्भुत और स्वयं परिपूर्ण होते हैं वे ईश्वरकी विभूति समझे जाते हैं—(यहाँ सौन्दर्य पदार्थ परिपूर्ण है) और उनका विनाश करना पाप समझा जाता है। इसी विचारसे खरदूषणने कहा कि *'बध लायक नहिं पुरुष अनूपा।'*

प० प० प्र०— कोमल बालकोंपर आघात करनेमें खर-दूषण जैसे उन्मत्त, घोर, क्रूरकर्माओंके भी *'बहहिं न हाथ'* ऐसी स्थिति सहज ही होती है। यह मानवी अन्त:करणका सहज स्वभाव पाया जाता है। १९ (६) से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगिनीका अपमान सहन करनेको खरदूषणादि तैयार हैं तथापि 'नारीलोभ', काम प्रताप बड़ाई=प्रभुता, कितनी प्रबल है। 'सीताजी प्राप्त हो जायँ' इस लोभसे वे निरपराधी चौदह सहस्र शूरवीरोंको पशुके समान समरयज्ञमें बलि देनेको सहज ही तैयार हो जाते हैं। रावणकी भी यही दशा है।

देहु* तुरत निज नारि दुराई। जीअत भवन जाहु द्वौ भाई॥६॥
मोर कहा तुम्ह ताहि सुनावहु। तासु बचन सुनि आतुर आवहु॥७॥

अर्थ—छिपायी हुई अपनी स्त्री हमको तुरत दे दो और जीते-जी दोनों भाई घर लौट जाओ। मेरा यह कथन तुम उनसे जाकर सुनाओ और उनका वचन (उत्तर) सुनकर तुम शीघ्र आ जाओ॥ ६-७॥

टिप्पणी—१ *'देहु तुरत निज नारि दुराई·····'* इति। शूर्पणखाने यह बात बतायी है, दूसरेसे नहीं मालूम

* 'देहि'— (क)। वंदनपाठकजीकी प्रतिमें 'देहु' के 'हु' पर हरताल लगाकर 'देहिं' बनाया है; पर पं० रा० गु० द्वि० की छपी गुटकामें 'देहु' है।

हुई—*'तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई'* *'दुराई'* अर्थात् जिसे हमारे डरसे तुमने छिपा दिया है, देनेका मन नहीं है, अतः कहा कि *'देहु'* दे दो। पूर्व कहा कि वधलायक नहीं हैं, अब कहते हैं कि दोनों भाई जीवित घर लौट जाओ अर्थात् स्त्री ही लेकर हम तुम्हें छोड़ देते हैं। स्त्री ले लेनेसे वधका दण्ड हो गया, यथा—*'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* **''सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'** (गीता) [पुनः भाव कि स्त्रीका अपराध किया है, अतः उसके दण्डमें स्त्री ले लेंगे, तुमको छोड़ देते हैं। (खर्रा) पुनः, बाबा हरिदासजीका मत है कि खरदूषणने मनमें विचार किया कि इनको मार डालें तो यह कड़ी सजा न होगी और काम इन्होंने किया है भारी दण्डका। इन्होंने हमारी बहिनके नाक-कान काटे हैं, उसके अनुकूल ही सजा देनी चाहिये। यही सोचकर उन्होंने कहा कि *'देहु तुरत निज नारि दुराई।'* इससे इनकी भी नाक संसारमें कटेगी, लोकमें इनकी निन्दा होगी। अपनी निन्दा सुनकर कान बहिरे कर लेंगे; यह मानो कानसे रहित होना है। *'देहु तुरत'* में यह भी भाव है कि स्त्री देकर तुरत चले जायँ जिससे हमारी निन्दा न हो कि एक नर बालकपर चौदह सहस्र शूरवीर निशाचर चढ़ आये। पुनः *'दुराई'* और *'जाहु'* का भाव कि चुराके चुपचाप घर चले जाओ, नहीं तो हमारे कोई निशाचर शत्रु जानकर भक्षण न कर लें। हम तो छोड़े देते हैं। (शिला)]

दूतन्ह कहा राम सन जाई। सुनत राम बोले मुसुकाई॥८॥
हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्हसे खल मृग खोजत फिरहीं॥९॥
रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं॥१०॥
जद्यपि मनुज दनुजकुल घालक। मुनिपालक खलसालक बालक॥११॥

अर्थ—यह सन्देश दूतोंने रामचन्द्रजीसे जाकर कहा। सुनते ही श्रीरामजी मुस्कुराकर बोले॥ ८॥ हम क्षत्रिय हैं, वनमें शिकार करते हैं, तुम्हारे-सरीखे दुष्टरूप मृगों (पशुओं) को तो ढूँढ़ते फिरते हैं॥ ९॥ शत्रुको बलवान् देखकर हम नहीं डरते। एक बार काल (यदि वह लड़ने आवे तो उस) से भी लड़ें॥ १०॥ यद्यपि हम मनुष्य हैं पर दैत्यकुलके नाशक, मुनियोंके पालक (पालन-पोषणकर्ता, रक्षक) और दुष्टोंके शालक (पीड़ा व दुःख देनेवाले, छेदन करनेवाले) बालक हैं॥ ११॥

नोट—१ (क) *'दूतन्ह कहा'* इति। यहाँ दूतोंका जाना कहा और पूर्व कहा है कि खरदूषणने मन्त्रियोंको बुलाकर उनसे कहा कि हमारा संदेशा उनसे कहो। इससे जान पड़ता है कि खरने मन्त्रीसे कहा और मन्त्रीने दूतोंको भेजा। (खर्रा) अथवा, मन्त्रियोंने दूतोंको भेजा हो वा कई मन्त्री स्वयं ही गये हों। एकसे अधिक गये, इसीसे *'दूतन्ह'* पद दिया। दूतत्वके काममें गये, अतः उन्हींको अब दूत कहा। (वंदनपाठकजी) (ख) *'राम सन जाई', 'सुनत राम'* इति। 'राम' शब्द देकर जनाया कि उन्होंने संदेसा कहनेपर भी 'राम' को प्रसन्न ही देखा, किञ्चित् भी भयका चिह्न न पाया।

टिप्पणी—१ (क) *'सुनत राम बोले'* से जनाया कि दूतोंने आकर यह भी कहा कि हमको आज्ञा है कि शीघ्र लौटकर आओ, अतः तुरत उत्तर दो। इसीसे तुरत उत्तर दिया। (ख) *'मुसुकाई'* का भाव कि तुम सीताको माँगते हो, हम उन्हें इसी कार्यके लिये ही तो सङ्ग लाये हैं, क्योंकि तुमको निर्मूल करना है। अथवा, मुस्कुराये कि बातें करके हमें डराना चाहते हो सो हम डरनेवाले नहीं। यही आगे कहते हैं—*'रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं।'* अथवा, हमको ऐसा निर्बल और अप्रतिष्ठित समझ लिया है कि हम स्त्री देकर चले जायेंगे। छोटा आदमी भी इज्जत लेनेसे मर जाता है और हम तो क्षत्रिय हैं, उसपर भी आप-ऐसे बलवान् शत्रु सम्मुख आ उपस्थित हुए हैं तो भी हम न लड़ें, यह कैसे सम्भव है? यथा—*'छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंकु तेहि पाँवर आना॥'* (१। २८४) तुम्हारी क्या, हम तो काल भी आ जाय तो उससे भी बराबर लड़ेंगे, हटेंगे नहीं! यथा—*'देव दनुज भूपति भट नाना। सम बल अधिक होउ बलवाना॥ जौ रन हमहिं पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ॥'* (१। २८४) अथवा, हँसकर जनाया कि अभी हमें

बालक समझते हो, आगे प्राणोंके लाले पड़ेंगे तब पराक्रम जान पड़ेगा। यहाँ हँसना निरादरसूचक है। अथवा [मुस्कानमें भाव यह है कि ये सब डर गये हैं, ऐसा न हो कि युद्ध न करें, अतः इनके क्षात्र-तेजको उत्तेजित करना आवश्यक है इसीसे चिढ़ानेके लिये बोले। (प० प० प्र०)]

दूतोंने क्या कहा?	क्या उत्तर मिला
खरदूषणका बल कहा	१ *हम छत्री मृगया बन करहीं*…*लरहीं*
आप नरभूषण हैं	२ *जद्यपि मनुज दनुजकुल घालक*
यह कोउ नृपबालक	३ *हम मुनिपालक खलसालक बालक हैं*
'जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा'…*दोउ भाई'*	४ *'जो न होइ बल घर फिरि जाहू…कदराई।'*

टिप्पणी—२ (क) *'तुम्ह से खल'* अर्थात् जो परस्त्रीकी खोजमें रहते हैं जैसे तुम और रावण, विभीषण नहीं। [ऊपर छन्दमें 'मृगराज' शब्द प्रभुके लिये आया है। उसीके अनुसार यहाँ राक्षसोंको 'मृग' कहा। भाव कि तुम सब मृगगण हो और हम मृगराज हैं। *'मृग खोजत फिरहीं'* से यह भी जनाया कि तुम्हारे-सरीखे दुष्टोंको मारना हमारा खेल ही है। यथा—*'बन मृगया नित खेलहिं जाई।'* (१। २०५) (प० प० प्र०) *'खोजत फिरहीं'* का भाव कि हमें तो ढूँढ़ना पड़ता है और तुम तो बिना परिश्रम आ मिले, तब तुमको कैसे छोड़ेंगे। (वै०)] (ख) *'मुनि पालक खलसालक',* यथा—'**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥**' (गीता)

नोट—२ काष्ठजिह्वास्वामीजी *'दनुजकुलघालक'* को खरदूषणका सम्बोधन मानते हैं अर्थात् 'हे दनुजकुलके नाशक!' और कहते हैं कि इससे जनाते हैं कि हमसे वैर करके माल्यवान् आदि दनुजकुलभरका नाश कराना चाहते हो। बैजनाथजी अर्थ करते हैं कि 'बाल, परिवारसहित दुष्टोंके नाशकर्त्ता हैं।'

जौं न होइ बल घर फिरि जाहू। समर बिमुख मैं हतौं न काहू॥ १२॥
रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई॥ १३॥
दूतन्ह जाइ तुरत सब कहेऊ। सुनि खरदूषन उर अति दहेऊ॥ १४॥

अर्थ—यदि बल न हो तो घर लौट जाओ, लड़ाईमें पीठ दिये हुए, मुँह फेरे हुए किसीको मैं कभी नहीं मारता॥ १२॥ लड़ाईमें चढ़ाई करके कपट, चतुरता और शत्रुपर कृपा करना तो महान् कायरता है॥ १३॥ दूतोंने तुरंत जाकर सब कहा। सुनकर खरदूषणका हृदय अत्यन्त जल उठा॥ १४॥

टिप्पणी—१ *'जौं न होइ बल'*…' यह खरदूषणके *'जीअत भवन जाहु दोउ भाई'* इन वचनोंका उत्तर है। *'काहू'* अर्थात् '**मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम्। प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्॥**' (भा० १। ७। ३६) अर्थात् मतवाला, सनकी या झक्की और पागल, सोया हुआ, बच्चा, स्त्री, मूर्ख, शरणागत, रथहीन, डरा हुआ ऐसे शत्रुको धर्मवित् नहीं मारते। पुनश्च, यथा—'**नायुधव्यसनप्राप्तं नार्त्तं नातिपरिक्षतम्। न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्॥**' (मनुस्मृति ७। ९३) अर्थात् शस्त्रहीन, आर्त्त, अत्यन्त घायल, डरे हुएपर धर्मज्ञ पुरुष हाथ नहीं चलाते।

टिप्पणी—२ *'रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई'* अर्थात् हमारे प्राण बचानेके बहाने अपने प्राण बचाते हो, अपने प्राणके लाले पड़े हैं इसीसे हमपर दया जना रहे हो। यह 'कपट चातुरी' है। (ख) *'परम कदराई'* का भाव कि चढ़ाई करके कपट चातुरी करना कायरपन है और शत्रुपर कृपा करना तो परम कादरता है। [*'रिपु पर कृपा परम कदराई'* इति। यह श्रीमुखवाक्य भी गिरह बाँधने योग्य है। लोग इसे उदारता कहते हैं, परंतु यह उनकी भूल है। इसी कृपाके कारण भारतके सम्राट् पृथ्वीराज छः बार गोरीको हराकर उसे छोड़ते गये और सातवीं बार जब पृथ्वीराज हारे तो गोरीने उनपर कृपा न की और पृथ्वीराजके साथ हिंदूसाम्राज्यका सूर्य अस्त हो गया। (राय ब० लाला सीतारामजी) इन शब्दोंसे उन्हें कायर सूचित किया। भाव यह कि वीरबाना धरकर आये हो और लड़नेमें शंकित होते हो, यह कायरपन है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ *'दूतन्ह जाइ तुरत सब कहेऊ…'* इति। (क) आज्ञा थी कि *'तासु बचन सुनि आतुर आवहु।'* अतः *'जाइ तुरत…'* कहा। (ख) *'उर अति दहेऊ'* अर्थात् जला-भुना तो पूर्वसे ही था, जब भगिनीकी दशा देखी थी, अब कपटी, कादर बनाये गये, इससे अब अत्यन्त दाह हुआ। दाह हुआ था, इसीका प्रभाव था कि *'कोउ कह जियत धरौ दोउ भाई', 'आइ गये बगमेल धरहु धरहु धावहु सुभट'* इत्यादि। 'अतिदाह' का प्रमाण, यथा—*'उर दहेउ कहेउ कि धरहु धाए बिकट भट रजनीचरा।…'*। तात्पर्य कि निर्बल जानकर धर-पकड़नेकी इच्छा की थी, क्योंकि आगे लिखते हैं कि *'जानि सबल आराति।'* [पुनः भाव कि हमने तो दया दिखायी थी कि स्त्रीको दे दो और चले जाओ, हम प्राण न लेंगे और वह उसको उलटा ही समझकर हमें कायर बनाता है, अतः अत्यन्त जल उठा। (प्र०)]

प० प० प्र०—इस उदाहरणके कारण ये हैं—(१) बिना प्राणोंपर खेले ही श्रीसीताजीकी प्राप्तिका मनोरथ जो हृदयमें था वह धूलमें मिल गया। (२) नृपबालकोंके मुखसे त्रैलोक्यविजयी वीरोंका अपमान और शत्रुके अपमर्दनकारक वचन, अपने ही सचिवोंके मुखसे सारी राक्षस सेनाके सम्मुख सुननेका असह्य अपूर्व प्रसंग। अत्यन्त असह्य दाह होनेसे सौन्दर्य देखकर जो दयार्द्रता आयी थी वह भाग गयी और स्वभाव प्रबल हो गया—**'स्वभावो दुरतिक्रमः।'**

नोट—दूत भेजनेका प्रसंग वाल्मीकीय और अध्यात्ममें नहीं है।

(हरिगीतिका)

छन्द—उर दहेउ कहेउ कि धरहु धाए* बिकट भट रजनीचरा।
सर चाप तोमर सक्ति सूल कृपान परिघ परसु धरा॥
प्रभु कीन्हि धनुष टंकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा†।
भए बधिर ब्याकुल जातुधान न ग्यान तेहि अवसर रहा॥

शब्दार्थ—**तोमर** =भालेकी तरहका एक प्रकारका अस्त्र। इसमें लकड़ीके डंडेमें आगेकी ओर लोहेका बड़ा फल लगा रहता था।=शर्पला, शापला। **परशु**=एक अस्त्र जिसमें एक डंडेके सिरेपर अर्द्धचन्द्राकार लोहेका फल लगा रहता है।= एक प्रकारकी कुल्हाड़ी जो पहले लड़ाईमें काम आती थी, फरसा, भलुवा। **'परिघ'**=गँड़ासा, लाहाँगी। **'सक्ति'**=एक प्रकारका प्राचीनकालका अस्त्र है। यह एक प्रकारकी बर्छी है जो भालेसे छोटी पर उसी आकारकी होती है और फेंककर चलायी जाती है। **'सूल'**=प्राचीनकालका एक अस्त्र है जो प्रायः बरछेके आकारका होता है।=पट्टिश (शस्त्र या खाँड़ा। इसकी तीन मापें थीं—उत्तम ४ हाथ, मध्यम ३॥ हाथ और अधम ३ हाथ लम्बा होता था। मुठियाके ऊपर चलानेवालेकी कलाईके बचावके लिये एक जाली बनी होती थी। दोनों ओर धार होती थी और नोक अत्यन्त तीक्ष्ण होती थी। आजकल जिसे पटा कहते हैं वह केवल लम्बाईमें छोटा होता है)—(प्र०) **'टंकोर'** (टंकार)= वह शब्द जो धनुषकी कसी हुई डोरीपर बाण रखकर खींचनेसे होता है=धनुषकी कसी हुई प्रत्यञ्चा खींच वा तानकर छोड़नेका शब्द। **'भयावह'**=भयंकर, डरावना।

अर्थ—खर-दूषणका हृदय जल उठा तब उन्होंने कहा कि पकड़ लो। (यह सुनकर) निशाचरोंके विकट योद्धा बाण, धनुष, तोमर, शक्ति (साँग), शूल, कृपाण (द्विधार खड्ग), परिघ और फरसा धारण किये हुए दौड़ पड़े। प्रभुने पहले धनुषका टंकार किया जो बड़ा कठोर और घोर भयंकर था। निशाचर टंकारका श्रवण करके बहिरे और व्याकुल हो गये, उस समय उनको कुछ होश-हवास न रह गया।

नोट—*'धरहु धाए…'* इति। यद्यपि हृदयमें अत्यन्त दाह हुआ तो भी मारनेको न कहा। केवल 'धरहु' पकड़ लो यही कहा। क्योंकि उनका सौन्दर्य अनुपम है, नरभूषण हैं, यह बात अब भी उनके हृदयमें है। (प्र०)

---

* धावहु—को० रा०। धाए—१७२१, १७६२, १७०४। † भयामहा—को० रा०।

टिप्पणी—१ (क) *'प्रभु कीन्हि धनुष टंकोर....'* इति। कुम्भकर्णयुद्धके समय भी श्रीरामजीने टंकार किया है जिससे शत्रु-सेना बहिरी हो गयी, यथा—*'प्रथम कीन्ह प्रभु धनुष टँकोरा। रिपुदल बधिर भयउ सुनि सोरा॥'* (६। ६७) जिन्होंने स्वप्नमें भी रणमें पीठ न दी थी वे भी मुड़ चले, टंकार सुनकर व्याकुल हो गये। (ख) टंकार कठोर है, अतः निशाचर बहिरे हो गये। कठोर कानोंके लिये है और घोर भयकर्त्ता मनके लिये है, अतः *'भये ब्याकुल।'* (ग) *'न ज्ञान तेहि अवसर रहा'* अर्थात् कुछ देर बाद होश आया जब टंकारका शब्द जो कानोंमें गूँज रहा था जाता रहा, यथा—*'सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं। कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं।'* (१। २६१)

पं० रा० व० श०—*'प्रभु कीन्ह धनुष टँकोर प्रथम'* इति। यहाँ 'प्रथम' का भाव यह भी है कि निशिचरोंसे युद्धमें प्रभुने आज ही प्रथम-प्रथम टंकार शब्द किया है। पूर्व मारीच-सुबाहुके युद्धमें टंकारकी आवश्यकता न पड़ी थी। [वाल्मी० ३। २५ में भी टंकार करना कहा है, यथा—**'स खरस्याज्ञया सूतस्तुरगान्समचोदयत्। यत्र रामो महाबाहुरेको धुन्वन्धनुः स्थितः॥ ३॥'** अर्थात् जिधर श्रीरामजी अकेले धनुषका टंकार कर रहे थे उस दिशामें सारथीने खरकी आज्ञासे घोड़ोंको हाँका।]

दो०—सावधान होइ धाए जानि सबल आराति।
लागे बरषन राम पर अस्त्र सस्त्र बहु भाँति॥
तिन्ह के आयुध तिल सम करि काटे रघुबीर।
तानि सरासन श्रवन लगि पुनि छाँड़े निज तीर॥१९॥

शब्दार्थ—'आराति'=शत्रु, यथा—*'पुनि उठि झपटहिं सुर आराती। टरइ न कीस चरन एहि भाँती॥'* (६। ३३) *'सुधि नहि तव सिर पर आराती।'* (३। २१) *'अस्त्र शस्त्र'*—अस्त्र वह हथियार है जो दूरसे शत्रुपर फेंके या चलाये जाते हैं, जैसे बाण, शक्ति, गोला इत्यादि और शस्त्र वह है जो फेंककर नहीं वरन् पाससे जिनसे आघात किया जाता है, जैसे खड्ग, तलवार आदि।

अर्थ—शत्रुको बली जानकर उन्होंने सावधान होकर धावा किया। बहुत तरहके अस्त्र-शस्त्र श्रीरामजीपर बरसने लगे। श्रीरघुवीरने उनके हथियारोंको काटकर तिलके समान टुकड़े-टुकड़े कर डाले। फिर धनुषको कानपर्य्यन्त खींचकर अपने तीर चलाये॥ १९॥

टिप्पणी—१ *'सावधान होइ धाए जानि।'* इति। पहले असावधानीसे धावा कर बैठे थे, यह जानकर कि निर्बल हैं। जब टंकारमात्रका यह प्रभाव देखा तब सावधान होकर चढ़ाई की। [पुनः, *'सावधान होइ'* में यह भी भाव है कि टंकारसे सब राक्षस मूर्छित हो गये थे। अब सावधान होकर फिर धाये। यहाँ श्रीरामजीकी ओरसे धर्मयुद्ध दिखाया कि राक्षसोंके असावधान होनेपर इन्होंने उनपर बाण नहीं छोड़े।]

टिप्पणी—२ *'लागे बरषन राम पर अस्त्र सस्त्र....।'* इति। ऐसा ही वाल्मीकीयमें भी कहा है, यथा—**'ते रामे शरवर्षाणि व्यसृजन् रक्षसां गणाः॥ १०॥ शैलेन्द्रमिव धाराभिर्वर्षमाणा महाघनाः।'** (स० २५) अर्थात् श्रीरामजीको मारनेकी इच्छासे उन राक्षसोंने उनपर बाणोंकी वृष्टि की मानो महामेघ पर्वतेन्द्रपर धारा बरसा रहे हों। वर्षासे पहाड़का नाश नहीं होता वैसे ही वे प्रभुका कुछ न कर सके।

(तोमर*)

छंद—तब चले बान कराल, फुँकरत जनु बहु ब्याल।
कोपेउ समर श्रीराम, चले बिसिख निसित निकाम॥१॥

---

* 'तोमर' छन्दके चारों चरणोंमें १२-१२ मात्राएँ होती हैं और अन्तमें गुरु लघु वर्ण रहता है। इस काण्डमें छः छन्द और एक अर्धाली इसी एक जगह आये हैं। तोमर एक आयुधका नाम भी है, अतः युद्ध-प्रसङ्गमें इस छन्दका प्रयोग सार्थक है।

अवलोकि खरतर तीर मुरि चले निसिचर बीर।
भए क्रुद्ध तीनिउ भाइ, जो भागि रन ते जाइ॥ २॥
तेहि बधब हम निज पानि, फिरे मरन मन महुँ ठानि।
आयुध अनेक प्रकार,* सनमुख ते करहिं प्रहार॥ ३॥

शब्दार्थ—'**निसित**' (निशित)=तेज, तीक्ष्ण सानपर चढ़े हुए। '**निकाम**'=अत्यन्त, बहुत; यथा—'**निकाम श्याम सुन्दरं**' **फुंकरत**=फूँ-फूँ शब्द करते जैसे सर्प, बैल आदिके मुँहसे या नथुनेसे बलपूर्वक वायु निकलनेपर शब्द होता है। बाणका अग्रभाग सुवर्णमयी सर्पकी जिह्वासम लपलपाता दीखता होगा।

अर्थ—तब भयंकर बाण ऐसे चले मानो बहुत-से सर्प फुंकारते हुए जा रहे हैं। श्रीरामचन्द्रजीने संग्राममें कोप किया। अत्यन्त तीक्ष्ण पैने बाण चलने लगे॥ १॥ बाणोंको बहुत ही तीक्ष्ण देखकर वीर निशाचर मुड़ चले तब तीनों भाई (खर, दूषण और त्रिशिरा) बड़े क्रुद्ध हुए (और बोले—) जो रणसे भाग जायगा, उसका हम अपने हाथों वध करेंगे। तब वे मनमें मरना निश्चय करके लौट पड़े और सामने आकर अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र चलाने लगे॥ २-३॥

टिप्पणी—१ *'तब चले बान कराल फुँकरत जनु बहु ब्याल'* इति। (क) राक्षसोंका अस्त्र-शस्त्र बरसाना कहा था और प्रभुके बाणोंको फुंकारते हुए सर्पकी उपमा दी। इस भेदसे जनाया कि वर्षासे पर्वतका नाश नहीं होता और सर्पसे मनुष्योंका मरण हो जाता है, वैसे ही उनके आयुध निष्फल हुए और प्रभुके आयुध उनका प्राण ही ले लेंगे। सर्पके दृष्टान्तसे उनका नाश जनाया। यथा—*'राम बान अहिगन सरिस निकर निसाचर भेक। जब लगि ग्रसत न''''''''''॥'* *'फुंकरत'* से सक्रोध और विषैले होना जनाया। (ख) *'तब चले बान'* और *'चले बिसिख निसित'* में बाणोंका चलाना भर कहा, तीरका लगना न कहा। इससे जनाया कि इन्हें देखते ही वीर मुड़ चले, पीठ फेरनेपर बाणोंने उनका पीछा न किया, क्योंकि प्रभु रणसे विमुखको नहीं मारते। प्रभुके वचन यहाँ चरितार्थ हुए, जो उन्होंने कहे थे कि *'समर बिमुख मैं हतौं न काहू।'* [नोट—समरमें कोपकी शोभा है, अत: 'श्रीराम' कहा। वा, श्रीरामजीकी विजयश्री इस समरमें होगी, यह जनाया। वा, श्रीके सम्बन्धसे कोप हुआ। नहीं तो आप तो राम हैं, आपको कोप कहाँ? (वंदनपाठकजी) *'सिसुपन ते पितु मातु बंधु गुर सेवक सचिव सखाउ। कहत राम बिधु बदन रिसौहैं सपनेहु लखेउ न काउ॥'* (विनय), यह उनका शील-स्वभाव है पर यहाँ नरनाट्य है, *'जस काछिय तस चाहिअ नाचा'* और कोप रणकी शोभा है, अत: कोपे। वाल्मीकिजीने भी यहाँ कोप करना लिखा है। यथा—'**क्रोधमाहारयत्तीव्रं वधार्थं सर्वरक्षसाम्। दुष्प्रेक्ष्यश्चाभवत्क्रुद्धो युगान्ताग्निरिव ज्वलन्॥ तं दृष्ट्वा तेजसाविष्टं प्राव्यथन्वनदेवताः। तस्य रुष्टस्य रूपं तु रामस्य ददृशे तदा। दक्षस्येव क्रतुं हन्तुमुद्यतस्य पिनाकिनः॥**' (३४-३५) अर्थात् सब राक्षसोंका वध करनेके लिये उन्होंने बड़ा क्रोध किया। प्रलयाग्निके समान वे दुष्प्रेक्ष्य हो गये। उनके तेजको देखकर वन-देवता घबड़ा गये। उनका क्रोधसे भरा हुआ रूप ऐसा दीखता था जैसे दक्षके यज्ञके नाशके लिये महादेवजीका रूप था। (वाल्मी० ३। २४)]

टिप्पणी—२ *'अवलोकि खरतर तीर मुरि चले निसिचर बीर।'* मुड़ चले, पीछे लौटे, पीठ दी, इससे बाणोंकी तीक्ष्णता जनायी। वीर निशाचरोंके पीठ देनेसे रघुवीरकी बड़ाई सूचित हुई। वे वीर न होते तो इनको यश न होता; यथा—*'नहिं गजारि जसु बधे सृगाला'* (६। २०)

टिप्पणी—३ *'भए क्रुद्ध तीनिउ भाइ'''* इति। तीनों भाइयोंका क्रुद्ध होना कहकर जनाया कि ये तीन बाकी रहे, ये नहीं मुड़े। पुन: यह कि वे तीनों मालिक हैं, तीनों तीन दिशाएँ घेरे हुए हैं। सेनाको तीन तरफसे घेरे हुए हैं और चौथी तरफ लड़ाई हो रही है। वे भागती हुई सेनासे बोले कि शत्रुसे बचोगे तो हम अपने हाथसे मारेंगे, हमसे बचकर कहाँ जा सकोगे? यह सुनकर *'फिरे मरन मन महुँ ठानि।'*

* अपार—१७०४, १७६२।

भाव कि जीतनेकी आशा कौन कहे, यहाँ तो जीवनकी भी आशा जाती रही।

टिप्पणी—४ *'सनमुख ते करहिं प्रहार'* इति। भाव कि मरना है तो वीरोंकी-सी मृत्यु क्यों न मरें। [पीठ देकर मरनेपर, कलंकित होकर अपने स्वामीके हाथसे मारे जानेसे अपयश होगा और नरकगामी होना पड़ेगा। इसी प्रकार रावणके डाँटनेपर कि *'जो रन बिमुख सुना मैं काना। सो मैं हतब कराल कृपाना।'''''''* (६। ४१) उसके सेवकोंने भी यही सोचा था, यथा—*'सन्मुख मरन बीर कै सोभा। तब तिन्ह तजा प्रान कर लोभा।'''''''* (६। ४१) ☞ हिंदूधर्मावलम्बियोंको स्मरण रखना और अपने भगवान् एवं महात्माओंके वाक्योंमें श्रद्धा तथा अटल विश्वास रखना चाहिये। ऐसा होनेसे न तो हमारा कोई कुछ बिगाड़ सकता है और न हमें कभी किसीसे भय हो सकता है। भगवान् गीतामें कह रहे हैं **'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।''''''''''** (२। ३७) अर्थात् हे अर्जुन! धर्मके लिये युद्धमें यदि तू मारा गया तो तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा। अतः तू युद्ध कर—यह वाक्य प्रत्येक हिन्दू गाँठ बाँध ले तो अन्य धर्मावलम्बियोंसे उनको कभी भय न रहे।]

रिपु परम कोपे जानि, प्रभु धनुष सर संधानि।
छाँड़े बिपुल नाराच, लगे कटन बिकट पिसाच॥ ४॥
उर सीस भुज कर चरन, जहँ तहँ लगे महि परन।
चिक्करत लागत बान, धर परत कुधर समान॥ ५॥
भट कटत तन सत खंड, पुनि उठत करि पाषंड।
नभ उड़त बहु भुज मुंड, बिनु मौलि धावत रुंड॥ ६॥
खग कंक काक शृगाल, कटकटहिं कठिन कराल॥ ७॥

शब्दार्थ—**चिक्करत**=चिंघाड़ना जैसे हाथी चिल्लाते हैं, चीख मारना। **'कुधर'** =कु (भू)+धर=पृथ्वीको धारण करनेवाले; पर्वत। **नाराच**—टिप्पणी २ में देखिये।

अर्थ—शत्रुको परम कुपित जानकर प्रभुने धनुषपर बाणका अनुसंधान करके (चढ़ाकर) बहुत-से नाराच नामके बाण छोड़े। जिनके द्वारा विकट राक्षस कटने लगे॥ ४॥ उनके छाती, सिर, भुजा, हाथ और पैर जहाँ-तहाँ पृथ्वीपर कटकर पड़ने लगे। बाण लगनेपर वे चिंघाड़ते हैं, उनके धड़ (सिररहित शरीर) पर्वतके समान गिर रहे हैं॥ ५॥ योद्धाओंके शरीर कटकर सौ-सौ टुकड़े हो जाते हैं, फिर माया करके उठ पड़ते हैं। आकाशमें बहुत-सी भुजाएँ और सिर उड़ते हैं तथा बिना सिरके धड़ दौड़ रहे हैं॥ ६॥ चील, कौए, आदि पक्षी और गीदड़, कठिन भयंकर कटकट्ट शब्द करते हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'रिपु परम कोपे जानि'* इति। वीरोंको कोप तो प्रथमसे ही था अब धिक्कार फटकार सुनकर परम कोप हुआ। पुनः, प्राणोंपर खेलनेवालेका कोप बहुत अधिक हो ही जाता है।

टिप्पणी—२ *'प्रभु धनुष सर संधानि। छाँड़े बिपुल नाराच'* इति। (क) प्रथम कह आये कि *'तानि सरासन श्रवन लगि पुनि छाँड़े निज तीर'* और अब दुबारा लिखा *'छाँड़े बिपुल नाराच।'* भाव कि प्रथम तीर छोड़े तब वीर भाग चले, भागनेपर बाण चलाना बंद कर दिया था, क्योंकि कह चुके हैं कि *'समर बिमुख मैं हतौं न काहू'*—इस अपने पूर्व वाक्यको यहाँ चरितार्थ कर दिखाया। जब वे फिर सम्मुख आये, तब पुनः बाण छोड़े। (ख) अब बाणोंकी दूसरी किस्म है। नाराच तीर लोहेका होता है। इसमें पाँच पंख लगे रहते हैं और शरमें चार पंख होते हैं। नाराचका चलाना बहुत कठिन है।

टिप्पणी—३ *'लगे कटन बिकट पिसाच'''* इति। (क) अब कटनेका ब्योरा देते हैं। उर, शीश, भुज, कर, चरण कट-कटकर भूमिपर पड़ने लगे। जब उर कटा तब बाण लगते ही चीखते चिंघाड़ते हैं और जब सिर कटा तब धड़ पृथ्वीपर पर्वत-सरीखा गिर पड़ता है। जिनके उर शीश आदि पृथ्वीमें गिरे उनके ही धड़ पृथ्वीमें

गिरे औरोंके नहीं। यह प्रथम प्रकार हुआ:—(१)। *'भट कटत तन सत खंड, पुनि उठत करि पाखंड'*' अर्थात् ये ऐसे मायावी हैं कि इनके तनके सौ-सौ टुकड़े हो जाते हैं तो भी ये समूचे उठ खड़े होते हैं मानो शरीर कटा ही न था। यही माया है। *पाखंड* =माया, यथा—*'जब कीन्ह तेहि पाखंड भे प्रगट जंतु प्रचंड।'* यह दूसरी प्रकारके कहे।—(२)। *'नभ उड़त बहु भुज मुंड बिनु मौलि धावत रुंड'* ये तीसरी प्रकारके हैं। जिनके भुज, सिर, उर आदि भी कटकर पृथ्वीपर नहीं गिरते, आकाशमें ही उड़ने लगते हैं, उनके धड़ भी पृथ्वीपर नहीं गिरते, आकाशमें ही उड़ते रहे—(३)। प्रथम पाँच टुकड़े होते थे—उर, सीस, भुज, कर, चरण। और जब बाणोंकी तीव्र धारा चली तब सौ-सौ टुकड़े हुए।— (४) (ख) *'खग कंक काक शृगाल'*' ये प्रथम प्रकारवाले राक्षसोंके खानेको आये। ये दूसरी प्रकारके वीरोंको नहीं खा सकते और न तीसरी प्रकारके वीरोंको ये खा सके, क्योंकि उनके कटे हुए अङ्ग आकाशमें उड़नेके कारण इनको मिलते नहीं।

प० प० प्र०—इस प्रसंगमें कविने *'तब चले'* से *'बिनु मौलि धावत रुंड'* तक वीर, भयानक और रौद्र-रस भर दिया है। *'कटकटहिं'* से *'गुडी उड़ावहीं'* तक वीभत्सरस है। आगे धीरे-धीरे फिरसे वीररसमें आकर *'पावहिं पद निर्बान'* में शान्तरसपर समाप्त किया है। ☞मानसकी यह विशेषता है कि ठौर-ठौरपर सब रसोंका रूपान्तर अन्तमें भक्ति या शान्तरसमें ही हो जाता है।

(हरिगीतिका)—

छंद—कटकटहिं जंबुक भूत प्रेत पिसाच खर्प्पर* संचहीं।
बेताल बीर कपाल ताल बजाइ जोगिनि नंचहीं॥
रघुबीर बान प्रचंड खंडहिं भटन्हके उर भुज सिरा।
जहँ तहँ परहिं उठि लरहिं धर धरु धरु करहिं भयकर गिरा॥ १॥

शब्दार्थ—**'बेताल'** =पुराणोंके अनुसार भूतोंकी एक प्रकारकी योनि है। इस योनिके भूत साधारण भूतोंके प्रधान माने जाते हैं और प्राय: श्मशानोंमें रहते थे। **'जोगिनि'**=रणपिशाचिनी। आवरण देवता—ये असंख्य हैं, पर इनमेंसे ६४ मुख्य हैं।

अर्थ—गीदड़ कटक्कट करते हैं। भूत, प्रेत, पिशाच खपड़ेमें रक्त-मांस जमा कर रहे हैं। बेताल वीरोंकी खोपड़ियोंसे ताल बजाते हैं और योगिनियाँ नाच रही हैं। रघुवीरके प्रचण्ड बाण योद्धाओंके कलेजों, भुजाओं और सिरोंको काटकर टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं। उनके धड़ जहाँ-तहाँ गिरते हैं, फिर उठते हैं, लड़ते हैं और धर पकड़ो, धरो ऐसा भयंकर शब्द करते हैं॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) *'कटकटहिं जंबुक भूतप्रेत पिसाच'*' इति। जैसे *'खग कंक काक शृगाल'* उधर मध्य संग्राममें आए वैसे ही जम्बुक, भूतप्रेत आदि भी मध्य संग्राममें वर्णन किये गये। ६४ योगिनियोंका नाच हो रहा है। (ख) *'रघुबीर बान प्रचंड'*' इति। भगवान्‌के कोपसे बाण भी कोपको प्राप्त हैं, यथा—*'भए क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।'* (६। ९०) (ग) पूर्व जो प्रथम प्रकार कहा उनमें उनका उठना नहीं कहा गया और यहाँ उनका (सिर, भुज, उर, कर, चरणका) उठना कहते हैं। सभी उठ पड़ते हैं तो गृध्र आदि खाते किसको हैं? उत्तर—जो अङ्ग कटता है वह पड़ा रहता है, दूसरा तैयार हो जाता है, जैसे रावणके सिर, बाहु और महिषासुरके सिर।

टिप्पणी—२ *'धर धरु धरु करहिं भयकर गिरा'* इति। (क) राक्षसोंके हृदयमें जो बात प्रथमसे ही गड़ी हुई है वही कटनेपर भी उनके मुखसे बराबर निकलती जा रही है—(१) *'कोउ कह जिअत धरहु दोउ भाई'*, (२) *'आइ गए बगमेल धरहु धरहु'*', (३) *'उर दहेउ कहेउ कि धरहु।'* तथा यहाँ (४) *'धर धरु धरु।'* (ख)*'करहिं भयकर गिरा'* जिसमें रामजी डर जायँ, उनके हृदयमें भय समा जाय।

---

* खर्प्पर—१७२१, १७६२। खप्पर—छ०, को० रा०। खर्प्प—१७०४।

अंतावरी गहि उड़त गीध पिसाच कर गहि धावहीं।
संग्राम पुर बासी मनहु बहु बाल गुड़ी उड़ावहीं॥

शब्दार्थ—'**अंतावरी**' =अँतड़ी; आँतोंका समूह।

अर्थ—गृध्र अतड़ियोंका एक किनारा पकड़कर उड़ते हैं और पिशाच (उसके नीचेका एक छोर) हाथसे पकड़कर दौड़ते हैं (ऐसा जान पड़ता है) मानो संग्रामरूपी नगरके रहनेवाले बहुत-से बालक पतंग उड़ा रहे हैं।

नोट—१ *'कर गहि धावहीं'*—यह उनका कौतुक है।

नोट—२ गृध्र अँतड़ी लिये आकाशमें पतंग-से जान पड़ते हैं। अँतड़ीका छोर पकड़े पिशाच रणभूमिमें खींचते हैं। यह मानो डोर है। पिशाच पुरवासी बालक हैं।

नोट—३ ☞ दीनजी कहते थे कि इस प्रसंगमें तुलसीदासजीने अपनी कवित्वशक्तिका प्रकाशन बहुत अच्छी तरहसे किया है। कविका कर्तव्य है कि वह असुन्दर वस्तुसे भी सुन्दरता निकाल ले। यहाँ तुलसीदासजीने बीभत्ससूचक दृश्यसे माधुर्य निकाला है। अन्तावरीको लेकर गीधका उड़ना एक बीभत्स दृश्य है, परन्तु इस दृश्यकी भी समता बालगुड़ी-उड़ावन-रूपी माधुर्यमूलक घटनासे की है जिससे उनमें भी माधुर्य आ गया है। इसी प्रकार अयोध्याकाण्डमें महाराज दशरथजीकी चिताकी उपमा *'सुरपुर सोपान'* से देकर निर्वेदमें भी माधुर्य निकाला है। और, लंकाकाण्डमें रामचन्द्रजीके श्यामशरीरपर रक्तबिंदुओंको देखकर (जो बीभत्ससूचक है) तमालपर रयमुनियोंका बिठलाना माधुर्यरूपमें हो गया है। ये बातें प्रकट करती हैं कि तुलसीदासजीमें कविकर्मकी बड़ी सूक्ष्म कुशलता थी।

मारे पछारे उर बिदारे बिपुल भट कहँरत परे।
अवलोकि निज दल बिकल भट तिसिरादि खरदूषन फिरे॥ २॥
सर सक्ति तोमर परसु सूल कृपान एकहि बारहीं।
करि कोप श्रीरघुबीर पर अगनित निसाचर डारहीं॥
प्रभु निमिष महुँ रिपुसर निवारि पचारि डारे सायका।
दस दस बिसिख उर माँझ मारे सकल निसिचरनायका॥ ३॥

शब्दार्थ—'पछाड़ना'=कुश्ती या लड़ाईमें पटकना, गिराना। यहाँ '**पछारे**' का अर्थ है 'बाणोंसे मूर्च्छित हो गिरे हुए'। '**कहँरत**' =कराहते वा पीड़ाके मारे आह-आह करते हैं। **कृपाण** =दुधारा खड्ग, सैफ। **निवारि**=रोककर, काटकर, नष्ट करके।

अर्थ—अनेकों योद्धा मारे गये, पछाड़े गये तथा हृदय फाड़ डाले गये हुए बहुत-से वीर पड़े कराह रहे हैं। अपने दलको व्याकुल देख त्रिशिरा आदि योद्धा और खरदूषणने इधर मुँह फेरा (आ झुके)॥ २॥ अगणित निशाचर कोप करके एक बार ही बाण, शक्ति, तोमर, परशु, शूल और कृपाण श्रीरघुवीरपर डाल रहे हैं। प्रभुने पलभरमें शत्रुके बाणोंको निवारणकर ललकारके उनके ऊपर अपने बाण छोड़े। समस्त निशाचरनायकों (सेनापतियों) के हृदयमें उन्होंने दस-दस बाण मारे॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'तिसिरादि खरदूषन फिरे'* इति। (क) प्रायः सर्वत्र खरदूषण ही आदिमें लिखे गये हैं पर यहाँ त्रिशिराको आदिमें रखा है। यह भी सहेतुक है। सब कामोंमें बड़ा भाई ही आगे रहता है (यथा—*'खरदूषन पहिं गइ बिलपाता।'* (१८। २) *'सचिव बोलि बोले खरदूषन।'* (१९। २) *'सुनि खरदूषन उर अति दहेऊ।'* (१९। १४) *'खरदूषन तिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड।'* (२५) *'खरदूषन तिसिरा कर घाता। सुनि दससीस जरे सब गाता॥'* (२२। १२) पर संकट पड़नेपर छोटेका धर्म है कि वह आगे आवे, बड़ेको दुःख न होने दे। इस कारण त्रिशिराको आदिमें रखा। (ख) *'खरदूषन पहिं गै बिलपाता'*, *'सुनि*

खरदूषन उर अति दहेऊ' यहाँतक 'मजामामला' (सुख) में वे आगे रहे। इज्जतआबरूके काममें तीनोंको बराबर (साथ) कहते हैं, यथा—*'भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ',* और संग्राममें त्रिशिराको आगे कहते हैं—*'तिसिरादि खरदूषन फिरे।'* इसी तरह *'कौसलेससुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥'* (४। ७) में श्रीलक्ष्मणजीको प्रथम कहा है।

टिप्पणी—२ *'एकहि बारहीं। करि कोप श्रीरघुबीर पर अगनित निसाचर डारहीं'* इति (क) एक बारगी बहुत-से अस्त्र-शस्त्र सब मिलकर डालते हैं जिसमें रोकते न बने; क्योंकि देख लिया है कि ये आयुध रोकनेमें बड़े प्रवीण हैं, यथा—*'तिन्ह के आयुध तिल सम"""।'* पर यहाँ भी उनको धोखा ही हुआ, उनका अनुमान ठीक न निकला। क्योंकि *'प्रभु निमिष महुँ रिपु सर निवारि"" '*। पलमात्रमें सबके समस्त आयुधोंको निवारण कर दिया। (वाल्मीकिजी लिखते हैं कि रामचन्द्रजी कब बाण लेते हैं और कब चलाते हैं, यह बात राक्षसोंको नहीं मालूम होती थी। वे केवल यही देख सकते थे कि वे धनुष खींच रहे हैं। यथा—**'नाददानं शरान्घोरान्विमुञ्चन्तं शरोत्तमान्। विकर्षमाणं पश्यन्ति राक्षसास्ते शरार्दिताः॥'** (३। २५। ३९) यह भाव *'निमिष महुँ"" '* में आ गया।) (ख) यहाँ *'श्रीरघुबीर'* पद दिया है। 'श्री पद' देकर यह जनाया कि विजय-श्री आपको प्राप्त है। अथवा, जनाया कि ये श्रीमान् वीर हैं कि निमिषमात्रमें समस्त आयुधोंको काट डाला। शत्रुके आयुधोंको क्षणभरमें व्यर्थ करना यह 'रघुकुलके वीर' की शोभा है।

प० प० प्र०—*'श्रीरघुबीर'* इति। (क) यहाँ *'श्री'* =तेज और ऐश्वर्य (से युक्त), यथा—*'भएउ तेजहत श्री सब गई।'* (६। ५। ४) पुनः, *श्री* =योगमाया (युक्त)। यह अर्थ भी यहाँ सुसंगत होगा क्योंकि आगे *'मायानाथ कौतुक'* होनेवाला है। (ख) इस स्थानपर श्रीरघुनाथजीकी पाँचों वीरताएँ प्रकट हुई हैं। अगणित निशाचर एक साथ ही अगणित शस्त्रास्त्रोंकी इनपर वृष्टि कर रहे हैं तथापि ये स्थिर और निर्भय लड़ रहे हैं। यह युद्धवीरता है। शत्रु *'करत माया अति घनी'* पर श्रीरामजीने कपटका आश्रय नहीं लिया। यह धर्मवीरता है। चौदह हजार अजेय, अमर राक्षसोंसे अकेले युद्ध करना और *'सुर मुनि सभय'* हो गये हैं यह जान लेना 'विद्यावीरता' है। राक्षसोंको निर्वाण और देव-मुनिको अभय देना दानवीरता है। सबको मोक्ष प्राप्त हो जाय इस हेतुसे सबके मन रामाकार कर दिये, यह कृपा है। इसीसे कविने *'कृपानिधान'* शब्द दोहेमें दिया है। रामाकार मन होनेसे वे मुक्त हो गये। यथा—*'रामाकार भए तिन्हके मन। मुक्त भए छूटे भवबंधन॥'* अनेकों जन्म मुनि यत्न करते हैं तब कहीं 'राम' मुखसे अन्तमें निकल पाता है, वह इन राक्षसोंको क्षणमात्रमें सुलभ कर दिया गया। 'परम कृपा' शत्रुपर भी यह कृपा वीरता है।

टिप्पणी—३ *'दस दस बिसिख उर माँझ मारे सकल निसिचरनायका'* इति। दस-दस बाण मारनेका भाव कि—(१) दसवीं दशा (मृत्यु) को प्राप्त कर दिया। वा, (२) ये वीर रावणसमान बली हैं। वहाँ *'दस दस बान भाल दस मारे'* हैं, अतः यहाँ भी दस-दस मारे। वा, (३) तीस तीरसे रावणको अनेक बार मारा है, अतएव यहाँ तीनोंको दस-दस बाण एक साथ मारे, इस प्रकार एक बारमें ३० बाण हुए। ऐसा करके *'खरदूषन मो सम बलवंता'* को चरितार्थ किया।

व्यापकजी—प्रभुने चौदह सहस्र राक्षसोंके हृदयमें दस-दस बाण मारकर अपना बाणविद्याका कौशल दिखाया। इस बातको सुनकर मेघनाद उसे हृदयमें रखे रहा और जब लंकामें संग्राम करने आया तब अपनेको श्रीरामजीसे अधिक जनाते हुए उसने कह ही डाला *'कहँ कौसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥'* इसमें व्यंग्य यह है कि तुम तो केवल चौदह सहस्र निशाचरोंको दस-दस बाण मारकर धन्वी विख्यात हो गये, पर अब आइये मेरा बाणविद्या-कौशल तथा हस्त-लाघव देखिये। मैं आपके अठारह पद्म यूथपतियों और अपार सेनामें प्रत्येकको दस-दस बाण मार सकता हूँ। और यह कहकर उसने वैसा ही किया भी। यथा—*'सो कपि भालु न रन महँ देखा। कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेषा॥ दस दस सर सब मारेसि परे भूमि कपि बीर। सिंहनाद करि गर्जा मेघनाद बलधीर॥'* (६। ४९) यह उसका गर्जन अपनी विशेषता-प्रदर्शनके अहंकारका है।

महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अति घनी।
सुर डरत चौदह सहस्र प्रेत बिलोकि एक अवधधनी॥
सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक कर्‍यौ।
देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मर्‍यौ॥ ४॥

अर्थ—योद्धा पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं, फिर उठकर भिड़ते हैं, मरते नहीं, अत्यन्त घनी माया करते हैं। प्रेत तो १४ हजार हैं और अवधके राजा (श्रीरामजी) अकेले—यह देखकर देवता और मुनि डर रहे हैं। सुर और मुनियोंको भयभीत देख उन मायापति प्रभु श्रीरामजीने अत्यन्त खेल किया कि सब आपसमें एक-दूसरेको रामरूप देख आपसमें ही सब शत्रुदल संग्राम करके लड़ मरा॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'महि परत उठि''करत माया अति घनी'* इति। *'माया अति घनी'* यह कि १४ हजार सबके सब फिर-फिर जी उठते हैं। इनको शिवजीका वरदान था कि तुम किसीके मारे न मरोगे, आपसमें लड़ोगे तभी मरोगे।

टिप्पणी—२ *'सुर डरत चौदह सहस प्रेत बिलोकि'''* इति। (क) यहाँ राक्षसोंको प्रेत कहा क्योंकि वे मर-मरके फिर जी उठे हैं, इसीसे जितनेके तितने ही बने रहते हैं। (ख) *'अवधधनी'* इति। भाव कि इस समय देवताओंकी दृष्टि माधुर्यरूपमें है, ऐश्वर्यपर नहीं। [यथा—'**चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्। एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति॥**' (वाल्मी० ३। २४। २३) '**बभूव रामः संध्याभ्रैर्दिवाकर इवावृतः। विषेदुर्देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः॥**' वाल्मी० (३। २५। १५) अर्थात् भयानक कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षस हैं, और इधर अकेले धर्मात्मा राम हैं, युद्ध कैसे होगा? श्रीरामचन्द्रजी राक्षसोंके बाणोंसे विद्ध हुए। उनके उन स्थानोंसे रुधिर निकल रहा है, वे सायंकालीन मेघोंसे ढके हुए सूर्यके समान हो गये हैं, यह देखकर देवता, गन्धर्व, सिद्ध और परमर्षि दुःखी हुए।]

टिप्पणी—३ *'सुर मुनि सभय देखि मायानाथ अति कौतुक कर्‍यौ'* इति। (क) *'मायानाथ'* का भाव कि राक्षसोंने अति घनी माया की और ये मायापति हैं तथापि इन्होंने माया न की, इन्होंने एक कौतुक मात्र किया। पुनः भाव कि वे कितनी माया करेंगे, यहाँ माया न लगेगी क्योंकि वे तो मायानाथ हैं। माया करना छल है, रामजी छली नहीं हैं, ये शुद्ध संग्राम कर रहे हैं, ये अधर्म युद्ध नहीं करते। अतः इन्होंने माया न रची। एक बड़ा भारी कौतुक कर दिया।

(ख) *'सुर मुनि सभय'* इति। यहाँ पंचवटीके संग्राममें नर नहीं हैं, सुरमुनि देखते हैं। राक्षसोंके भयसे यहाँ साधारण मनुष्य न थे।

रा० प०—यह अद्भुत रस है। तीनों कालोंमें आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली बात है कि सब परस्पर एक-दूसरेको राम देखते थे।

प्र०—कुछ लोगोंका कहना है कि इन सब निशाचरोंको शिवजीका वरदान था कि वे किसीसे न मरेंगे, आपसमें ही लड़कर मृत्यु होगी, अन्यथा नहीं। अतएव श्रीरघुनाथजीने मोहनास्त्र चलाया जिसका फल यह हुआ कि सब एक-दूसरेको राम ही दीखते थे। इस भावमें *'मारे पछारे बिदारे'* में शङ्का ही नहीं रह जाती।' [अकम्पन संग्रामभूमिसे भागकर जब रावणके पास गया तब उसके भी वचनोंसे यही बात सिद्ध होती है; यथा—'**सर्पाः पञ्चानना भूत्वा भक्षयन्ति स्म राक्षसान्। येन येन च गच्छन्ति राक्षसा भयकर्षिताः॥ तेन तेन स्म पश्यन्ति राममेवाग्रतः स्थितम्। इत्थं विनाशितं तेन जनस्थानं तवानघ॥**' (वाल्मी० सर्ग ३१। १९-२०) अर्थात् श्रीरामजीके छोड़े हुए बाण पंचमुखवाले सर्प होकर राक्षसोंको खा गये। डरे हुए राक्षस जिस मार्गसे जाते थे, उधर ही अपने आगे रामचन्द्रको स्थित देखते थे। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रने आपके जनस्थानका नाश किया।]

दोहा—राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान।
करि उपाय रिपु मारे छन महुँ कृपानिधान॥

हरषित बरषहिं सुमन सुर बाजहिं गगन निसान।
अस्तुति करि करि सब चले सोभित बिबिध बिमान॥ २०॥

अर्थ—सब राम-राम कहते हुए (यही राम है इसे मारो) शरीर छोड़ते हैं और मोक्षपद पाते हैं। दयासागर श्रीरामजीने उपाय करके क्षणभरमें शत्रुओंको मार डाला। देवता प्रसन्न होकर फूल बरसाते हैं और आकाशमें नगाड़े बज रहे हैं। सब देवता स्तुति कर करके अनेक प्रकारके विमानोंमें सुशोभित होते हुए चल दिये॥ २०॥

टिप्पणी—१ *'राम राम कहि तनु तजहिं'* इति। (क) यहाँ नामके माहात्म्यसे मुक्ति होना कहा। ये रामबाणसे नहीं मरे। परस्पर युद्ध करके मरे, इससे मुक्ति न हो सकती थी; पर नामके प्रतापसे वे मुक्त हो गये। लङ्कामें बाणका माहात्म्य कहा, क्योंकि बाणोंद्वारा मुक्ति होगी; यथा—*'रघुबीर सर तीरथ सरीरन्ह त्यागि गति पैहहिं सही।'* (सुं०) *'कृपानिधान'* पद दिया क्योंकि देवताओं-मुनियोंको अभय किया और राक्षसोंको मुक्ति दी। निशाचरोंको क्लेश न भोगना पड़ा। क्षणमात्रमें कौतुक करके निर्वाणपद दिया—यह कृपा है।

टिप्पणी—२ *'हरषित बरषहिं सुमन सुर'* इति। देवता पूर्णकाम हुए, अतः *'हरषित बरषहिं'* कहा; यथा—*'भरत राम संबाद सुनि सकल सुमंगल मूल। सुर स्वारथी सराहि कुल हरषित बरषहिं फूल॥'* (२। ३०८) पूर्ण कार्य न होता तो मलिन हृदयसे बरसाते। यथा—*'भरतहि प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस मलिन से॥'* (२। ३०१)

टिप्पणी—३ *'अस्तुति करि करि सब चले…'* इति। (क) *'करि करि'* से प्रत्येकका पृथक्-पृथक् स्तुति करना जनाया। (ख) *'सोभित बिबिध बिमान'* इति। देवताओंके इस घोर निशाचर युद्ध और उनके नाशसे आनन्द हुआ, अतः शोभित हैं, यथा—*'बर्षा घोर निसाचर रारी। सुरकुल-सालि सुमंगलकारी॥'* पुनः भाव कि पहले भुज, सिर, मुण्डसे आकाश अशोभित था अब विमानोंसे सुशोभित है।

नोट—१ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि 'देवता और चारण एकत्र होकर फूल बरसाते दुन्दुभी बजाते स्तुति करते हैं कि तीन मुहूर्तमें इन्होंने कामरूप १४ सहस्र निशाचरोंको युद्धमें मारा। यह बड़ा अद्भुत कर्म है। अद्भुत पराक्रम है, दृढ़ता विष्णुके समान है। स्तुति करके गये तब ब्रह्मर्षि, राजर्षि और अगस्त्यजीने पूजा की और कहा कि इन्हीं पापियोंके वधके लिये महर्षि आ करके आपको यहाँ लाये और इसीलिये इन्द्र शरभङ्गजीके पास आये थे। आपने हम सबोंका वह काम किया। अब महर्षि धर्मानुष्ठान करेंगे। यथा—'**एतस्मिन्नन्तरे देवाश्चारणैः सह संगताः। दुन्दुभींश्चाभिनिघ्नन्तः पुष्पवर्षं समन्ततः॥ रामस्योपरि संहृष्टा ववर्षुर्विस्मितास्तदा अर्धाधिकमुहूर्त्तेन रामेण निशितैः शरैः॥ चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां कामरूपिणाम्। खरदूषणमुख्यानां निहतानि महामृधे॥ अहो बत महत्कर्म रामस्य विदितात्मनः। अहो वीर्यमहो दार्ढ्यं विष्णोरिव हि दृश्यते॥ इत्येवमुक्त्वा ते सर्वे ययुर्देवा यथागतम्। ततो राजर्षयः सर्वे संगताः परमर्षयः॥ सभाज्य मुदिता रामं सागस्त्या इदमब्रुवन्। एतदर्थं महातेजा महेन्द्रः पाकशासनः॥ शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरन्दरः। आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः॥ एषां वधार्थं शत्रूणां रक्षसां पापकर्मणाम्। तदिदं नः कृतं कार्य्यं त्वया दशरथात्मज॥ स्वधर्मं प्रचरिष्यन्ति दण्डकेषु महर्षयः।**' (वाल्मी० ३०। २९—३६)

दीनजी—'अनख'से रामनामके उच्चारणका उदाहरण यह प्रसंग है।

जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सब के भय बीते॥ १॥
तब लछिमन सीतहि लै आए। प्रभु पद परत हरषि उर लाए॥ २॥
सीता चितव स्याम मृदुगाता। परम प्रेम लोचन न अघाता॥ ३॥

अर्थ—जब रघुनाथजीने संग्राममें शत्रुको जीत लिया तथा सुरनरमुनि सबके भय दूर हो गये। तब लक्ष्मणजी श्रीसीताजीको ले आये। चरणोंमें पड़ते ही प्रभुने उनको हर्षपूर्वक हृदयसे लगा लिया॥ १-२॥ श्रीसीताजी परमप्रेमसे

श्रीरामजीके श्यामल कोमल शरीरका दर्शन कर रही हैं, उनके नेत्र अघाते नहीं, तृप्त नहीं होते॥ ३॥

प० प० प्र०—१ *'जब रघुनाथ समर रिपु''''* यहाँ *'रघुबीर'* शब्दसे 'र' और 'ब' का अनुप्रास भी बढ़िया हो जाता है उसे न देकर *'रघुनाथ'* शब्द देनेमें भाव यह है कि इन्होंने वह कार्य कर दिखाया जो अन्य रघुवंशीय महावीरोंसे नहीं हुआ था। इस प्रकार *'रघुनाथ'* नामकी सार्थकता बतायी। इसी भावसे आगे *'श्रीरघुनायक'* शब्दका प्रयोग किया गया है।

प० प० प्र०—२ (क) *'सुर नर मुनि सब के'* इन शब्दोंसे स्वर्ग, मर्त्य और पातालमें चराचर जीवोंका निर्भय होना बताया। क्योंकि खरदूषणादि इन सबोंको सताया करते थे जैसा उनके *'नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते'* इन वचनोंसे स्पष्ट है। मुनियोंका निर्भय होना यह है कि राक्षस उनके स्नान, संध्या, जप, तप और यज्ञादि कर्मोंमें विघ्न डाला करते थे, मुनि समर्थ होते हुए भी अपनी तपस्याकी हानिके भयसे उनको शाप न दे सकते थे (जैसा विश्वामित्रजीके प्रसंगमें बालकाण्ड २०७ (९) में लिखा जा चुका है) वह बाधा दूर हो गयी अब निर्भय होकर जप-तपादि करेंगे। यथा—'**स्वधर्मं प्रचरिष्यन्ति दण्डकेषु महर्षयः।**' (वाल्मी० ३०। ३७) यह अगस्त्यजीका वाक्य है। (ख)—अभी रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद तो जीवित ही हैं तब इन सबोंका निर्भय होना कैसे मान लिया गया? (समाधान)— खरदूषण रावणके समान बलवान् थे, इनके वधसे उनको दृढ़ विश्वास है कि रावण भी मारा जायगा। श्रीरामजी निशाचर-नाशकी प्रतिज्ञा कर ही चुके हैं, दण्डकारण्यमें हैं ही, रावण-समान बलवान् उसके भाइयोंको मार ही चुके हैं, अब उसका भी विनाश निश्चय है।

टिप्पणी—१ *'जब रघुनाथ''''''भय बीते'* अर्थात् समरके समय भी उनको बड़ा भय रहा, यथा—*'सुर मुनि सभय प्रभु देखि''''''।'* काण्डके प्रारम्भमें कहा था *'अब प्रभुचरित सुनहु अति पावन। करत जे बन सुर नरमुनि भावन'* और *'चले बनहिं सुर नर मुनि ईसा'* वही *'सुर नर-मुनि'* पद यहाँ देकर यह बात पुष्ट करते हैं कि इन्हींकी सहायताके लिये चले थे और सहायता की। (ख) [*'तब'* अर्थात् जब देवताओंने हर्षित होकर पुष्पोंकी वृष्टि की, नगाड़े बजाये और स्तुति कर-करके निर्भय होकर चल दिये तब आये। नगाड़ोंके शब्द तथा स्तुतियोंसे समझ गये कि *'रघुनाथ समर रिपु जीते।'* स्तुतियाँ बन्द होनेसे देवताओंका चला जाना भी निश्चित हो गया। *'हरषि'* देहली-दीपक-न्यायसे लक्ष्मणजी और प्रभु दोनोंके साथ है। बड़ोंको प्रणाम हर्षपूर्वक करना धर्म है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ (क) *'प्रभु पद परत'* यह सेवक भावसे और *'सीता चितव स्याम मृदुगाता'* यह स्त्रीभावसे है; यथा—*'नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥'* (१। २४१) '**श्यामो भवति शृङ्गारः।**' (ख) *'परम प्रेम लोचन न अघाता'* इति। प्रेम तो सदा ही रहता है पर इस समय घोर संग्राममें विजयको प्राप्त हुए श्रीरामजीको देख रही हैं, अतः परम प्रेम है। यह '**बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे। मुदा परमया युक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान्हतान्। रामं चैवाव्ययं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा॥**'(४०)॥'''''''**बभूव हृष्टा जनकात्मजा तदा॥**' (वाल्मी० ३। ३०। ४१) [श्रीप्रज्ञानानन्दस्वामीजीका मत है कि नील सरोरुह श्याम शरीरपर रुधिरकी लाल बूँदें माणिक्यके समान और बीच-बीचमें पसीनेकी बूँदें मोतीके समान बड़ी सुन्दर शोभा दे रही हैं। जटाजूट बँधा हुआ है। लोचन लाल हैं। इस अद्भुत झाँकीका दर्शन अभीतक कभी नहीं किया था। अतः देखती ही रह गयीं। (अ० रा० के '**शस्त्रव्रणानि चाङ्गेषु ममार्ज जनकात्मजा॥**' (३। ५। ३७) से यह भाव लिया जा सकता है। ऐसी ही झाँकी रावणवधके अंतमें जो कविने ६। १०२ में दिखायी है, यथा—*'संग्राम अंगन राम अंग अनंग बहु सोभा लही॥ सिर जटा-मुकुट प्रसून बिचबिच अति मनोहर राजहीं। जनु नीलगिरि पर तड़ित पटल समेत उडुगन भ्राजहीं॥ भुज दंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने। जनु रायमुनी तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने॥'* उसके अनुसार भी यह भाव हो सकता है।)]

टिप्पणी—३ खरदूषण और रावणका समान युद्ध कहकर *'खरदूषन मोहि सम बलवंता'* रावणके इस विचारको चरितार्थ किया है।

खरदूषण-युद्ध	रावण-युद्ध
धाए निसिचर निकर बरूथा। जनु सपच्छ कज्जलगिरिजूथा	१ चले बीर सब अतुलित बली। जनु कज्जल कै आँधी चली
नाना बाहन नानाकारा। नानायुधधर घोर अपारा	२ चलेउ निसाचर कटक अपारा। चतुरंगिनी अनी बहु धारा
असगुन अमित होहिं भयकारी। गनहिं न मृत्युबिबस सब झारी	३ असगुन अमित होहिं तेहि काला। गनहिं न भुजबल गर्व बिसाला
गर्जहिं तर्जहिं गगन उड़ाहीं	४ केहरिनाद बीर सब करहीं
धूरि पूरि नभमंडल रहा	५ उठी रेनु रबि गयउ छिपाई
कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों	६ जटाजूट बाँधे दृढ़ माथे
कटि कसि निषंग बिसाल भुज गहि चाप बिसिष सुधारिकै	७ कटितट परिकर कस्यो निषंग कर कोदंड कठिन सारंग
उर दहेउ कहेउ कि धरहु धावहु बिकट भट रजनीचरा	८ कहेउ दसानन सुनहु सुभट्टा। मर्दहु भालु कपिन्ह के ठट्टा
आइ गए बगमेल	९ एही बीच निसाचर अनी। कसमसात आई अति घनी
प्रभु कीन्ह धनुष टंकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा। भये बधिर ब्याकुल जातुधान	१० प्रथम कीन्ह प्रभु धनुष टकोरा। रिपुदल बधिर भयेउ सुनि सोरा॥
लागे बरसन राम पर अस्त्रसस्त्र बहु भाँति। तिन्हके आयुध तिलसम करि काटे रघुबीर॥	११ कोटिन्ह आयुध रावन डारे। तिल प्रमान करि काटि निवारे॥
तानि सरासन श्रवन लगि पुनि छाँड़े निज तीर	१२ तानेउ चाप श्रवन लगि छाँड़ेउ बिसिख कराल
तब चले बान कराल फुंकरत जनु बहु ब्याल	१३ चले बान सपच्छ जनु उरगा
कोपे समर श्रीराम, चले बिसिष निसित निकाम	१४ रघुपति कोपि बान झरि लाई
अवलोकि खर तर तीर मुरि चले निसिचर बीर	१५ चले निसाचर निकर पराई
भये क्रुद्ध'''''' जो भागि रन ते जाइ तेहि बधब हम निज पानि।	१६ फेरि सुभट लंकेस रिसाना॥ जो रन बिमुख फिरा मैं जाना। सो मैं हतब कराल कृपाना॥
फिरे मरन मन महँ ठानि	१७ उग्र बचन सुनि सकल डेराने। चले क्रोध करि
सनमुख ते करहिं प्रहार	१८ सनमुख मरन बीर कै सोभा। तब तिन्ह तजा प्रानकर लोभा
छाड़े बिपुल नाराच लगे कटन बिकट पिसाच।	१९ जहँ तहँ चले बिपुल नाराचा। लगे कटन भट बिकट पिसाचा
उर सीस भुज कर चरन जहँ तहँ लगे महि परन	२० कटहिं चरन उर सिर भुजदंडा
चिक्करत लागत बान धर परत कुधर समान	२१ लागत बान बीर चिक्करहीं। घुर्मि घुर्मि घायल महि परहीं
भट कटत तन सत खंड	२२ बहुत बीर होइ सतखंडा
नभ उड़त बहु भुज मुंड	२३ रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू
बिनु मौलि धावत रुंड	२४ रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिं
खग कंक काक शृगाल कटकटहिं कठिन कराल	२५ काक कंक लै भुजा उड़ाहीं। जंबुक निकर कटक्कटकट्टहिं
भूतप्रेतपिसाच खर्प्पर संचहीं। बेताल बीर कपाल ताल बजाइ जोगिनि नंचहीं।	२६ जोगिनि भरि भरि खप्पर संचहिं। भूतपिसाचबधू नभ नंचहिं। भट कपाल करताल बजावहिं।
धरु धरु करहिं भयकर गिरा	२७ धरु धरु मारु मारु धुनि गावहिं
अंतावरी गहि उड़त गीध	२८ खैंचत गीध आँत तट भए
बिपुल भट कहरत परे	२९ कहरत भट घायल तट गिरे
अवलोकि निजदल बिकल भट तिसिरादि खरदूषन फिरे	३० रावन हृदय बिचारा भा निसिचर संहार
सर सक्ति तोमर परसु सूल कृपान एकहि बारहीं। करि कोप श्रीरघुबीरपर अगनित निसाचर डारहीं॥ प्रभु निमिष महँ रिपुसर निवारि प्रचारि डारे सायका।	३१ कोटिन्ह चक्र त्रिसूल पबारइ। बिनु प्रयास प्रभु काटि निवारइ॥
दस दस बिसिष उर माँझ मारे	३२ दस दस बान भाल दस मारे
महि परत पुनि उठि लरत	३३ उठहिं सँभारि सुभट पुनि लरहीं

मरत न करत माया अतिघनी	३४ *मरत न रिपु श्रम भयेउ बिसेषा॥ दस दिसि धावहिं कोटिन्ह रावन*
सुर डरत	३५ *डरे सकल सुर*
सुरमुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक करेउ	३६ *सुर सभय जानि रघुपति चाप सर जोरत भये*
'देखहिं परस्पर राम करि संग्राम रिपु दल लरि मरेउ'	३७ *पुनि पुनि प्रभु काटत भुज सीसा।*
'अति कौतुक करेउ'	३८ *अति कौतुकी कोसलाधीसा*
राम राम कहि तनु तजहिं	३९ *कहाँ राम रन हतउँ प्रचारी*
पावहिं पद निरबान	४० *तासु तेज समान प्रभु आनन*
हरषित बरषहिं सुमन सुर बाजहिं गगन निसान।	४१ *सुर दुंदुभी बजावहिं हरषहिं*
अस्तुति करि करि सब चले सोभित बिबिध बिमान	४२ *अस्तुति करहिं सुमन सुर बरषहिं*

रा० प्र० श०—इस प्रसङ्गमें नवों रसोंका वर्णन हुआ है। यथा—१ *'रुचिर रूप धरि प्रभु पहँ गई।'* —शृंगार। २ *'अहै कुमार मोर लघु भ्राता'*—हास्य। ३ *'नाक कान बिनु भइ बिकरारा'*—बीभत्स। ४ *'एक बार कालहु सन लरहीं'*—वीर। ५ *'कोपेउ समर श्रीराम'*—रौद्र। ६ *'उर सीस कर भुज चरन जहँ तहँ लगे महि परन'*—भयानक। ७ *'देखहिं परस्पर राम करि संग्राम रिपु दल लरि मर्‍यो'*—अद्भुत। ८ *'राम राम कहि तनु तजहिं'*—करुण। ९ *'जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते॥'*—शान्त।

पंचबटी बसि श्रीरघुनायक। करत चरित सुर मुनि सुखदायक॥ ४॥

अर्थ—इस प्रकार पंचवटीमें बसकर श्रीरघुनाथजी सुरों और मुनियोंको सुख देनेवाले चरित करते हैं॥ ४॥

प० प० प्र०—*'श्रीरघुनायक'* इति। *'सिय'* शब्दसे तीसरा 'य' अक्षर आ जाता और अनुप्रास बढ़ जाता। *'सिय'* न देकर 'श्री' शब्द लिखकर सूचित करते हैं कि यहाँ श्रीभुशुण्डिजी वक्ता हैं। [*'सिय'* नाम न देनेका कारण हम प्रारम्भमें दे आये हैं। यह माधुर्यका नाम है। अरण्यकाण्डसे ऐश्वर्य प्रधान है]

टिप्पणी—१ *'करत चरित सुर मुनि सुखदायक'* इति। यहाँ *'सुर मुनि'* कहा और पूर्व प्रारम्भसे *'सुर नर मुनि'* तीनोंको कहते आये हैं; यथा—*'अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन। करत जे बन सुर नर मुनि भावन॥' 'मुनिपद कमल नाइ करि सीसा। चील बनहिं सुर नर मुनि ईसा॥' 'सुर नर मुनि सबके भय बीते'*। अतः यहाँ भी *'नर'* शब्दका ग्रहण हुआ।

[स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि *'नर'* शब्दका प्रयोग करनेसे इस वाक्यमें अतिव्याप्ति हो जाती, कारण कि मनुष्यमात्रको भगवल्लीला-श्रवण प्रिय नहीं लगता। कितने ही उससे द्वेष रखते हैं। 'देवयोनि' भोग-योनि है, इससे देवताओंको भगवच्चरितसे लाभ उठानेका सामर्थ्य नहीं है। अतएव यहाँ *'सुर'*=मृत्युलोकके वे जीव जिनको लीला-श्रवण अति प्रिय है। यथा—*'सदा सुनहिं सादर नर नारी। ते सुर बर मानस* **अधिकारी**॥']

प० प० प्र०—*'सुखदायक'* अर्थात् जिनके श्रवण, कथन, गान और मननादिसे नित्य, शाश्वत, दुःखरहित सुखका लाभ हो जाय। यहाँ अवतारका एक मुख्य हेतु *'सुखदायक लीला'* करना बताया। यथा *'गाइ गाइ भवनिधि नर तरहीं', कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥'* (७। १२०)

खरदूषणवध प्रकरण समाप्त हुआ।

'जिमि सब मरम दसानन जाना'—प्रकरण

धुआँ देखि खरदूषन केरा। जाइ सुपनखा रावन प्रेरा॥ ५॥
बोली बचन क्रोध करि भारी। देस कोस कै सुरति बिसारी॥ ६॥
करसि पान सोवसि दिनु राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती॥ ७॥

शब्दार्थ—धुआँ—धुर्रा, धज्जी, नाश, टुकड़े-टुकड़े होना।=मृतक शरीर—यह बुन्देलखण्डी भाषा है।—(रा० प्र०) दीनजी इसे अवधी प्रयोग बताते हैं। क्रोधावेशमें आकर इस मुहावरेका प्रयोग लोग करते

हैं कि हम तुम्हारा धुआँ (नाश) देखेंगे—(पं० रा० व० श०)। ☞ वाल्मी० २। ६९। १८ में जो कहा है कि '**नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि। अचिरात्तस्य धूमाग्रं चितायां संप्रदृश्यते॥**' अर्थात् स्वप्नमें जो मनुष्य गधेपर सवार जाता देख पड़ता है, उसकी चितासे धुआँ उठता दिखायी पड़ता है। इससे भी 'धुआँ देखने' का अर्थ 'मरा हुआ' ही सिद्ध होता है। प्रेरणा=उस्काना, उत्तेजित करना।

अर्थ—खरदूषणका मरण देखकर शूर्पणखाने जाकर रावणको प्रेरित किया॥ ५॥ बड़ा क्रोध करके वह यह वचन बोली—तूने देश और खजानेकी सुधि भुला दी॥ ६॥ मदिरा पी-पीकर रात-दिन सोया करता है। तुझे खबर नहीं कि शत्रु सिरपर आ गया॥ ७॥

टिप्पणी—१ ***'बोली बचन क्रोध करि भारी'*** इति। शूर्पणखा खरदूषणसे क्रोधपूर्वक बोली थी, यथा—***'धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता'*** और यहाँ 'भारी क्रोध' करके बोली।

टिप्पणी—२ ***'देस कोस कै सुरति बिसारी'*** का भाव कि शत्रुने तेरा देश 'जनस्थान' दबा ही लिया, अब कोश भी लेगा। देश-कोशकी खबर न लेते रहना, बेखबर या निश्चिन्त रहना कि हमारा कोई क्या कर सकता है, हमने तो इन्द्रतकको पकड़कर बाँध लिया, और शत्रुकी खबरदारी न रखना यह सब नीतिके विरुद्ध है, इसीसे आगे नीति कहती है।

टिप्पणी—३ खर्रा—शूर्पणखा बहिन है, इससे उसके द्वारा धर्मोपदेश होना उचित है। वाल्मीकीयमें इसका प्रमाण है। कैकयीके वर माँगनेपर महाराज दशरथने कहा है कि रामको वन देकर मैं कौसल्याको क्या उत्तर दूँगा कि जिसने हमें माता, स्त्री और भगिनीके समान सुख दिया है—धर्मोपदेशमें वह बहिनकी-सी है। यथा—'**यदा यदा च कौसल्या दासीव च सखीव च॥ भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति। सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा॥**'—(वाल्मी० २। १२। ६८-६९)

बै०—कोशमें जनस्थान खाली हुआ।

राज नीति बिनु धनु बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा॥ ८॥
बिद्या बिनु बिबेक उपजाए। श्रम फल पढ़े किए अरु पाए॥ ९॥
संग ते जती कुमंत्र तें राजा। मान तें ग्यान पान तें लाजा॥ १०॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी॥ ११॥

सो०—रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि।
अस कहि बिबिध बिलाप करि लागी रोदन करन॥ २१॥

शब्दार्थ—'**प्रनय**' —प्रणय प्रीतिका आदि अङ्ग है यथा—***'प्रणय प्रेम आसक्ति पुनि लगन लाग अनुराग। नेह सहित सब प्रीतिके जानब अंग बिभाग॥' 'मम तव तव मम प्रणय यह प्रीति निरंतर होइ।'***—(बै०) **प्रनय**=प्रीतियुक्त प्रार्थना, नम्रता, विश्वास। सौहार्द परिचय अर्थात् जिसके साथ प्रीति करे उसमें और अपनेमें अभेद समझना ऐसे प्रेमको 'प्रणय' कहते हैं—(पं० रा० व० श०)। जती (यती)=जो मोक्षके लिये यत्न करे, घर-बार-धन सब छोड़ दे। **संग** =विषयोंमें आसक्ति। **मान**=गर्व, अभिमान, प्रतिष्ठा।

अर्थ—नीतिके बिना राज्य, धर्मके बिना धन (की प्राप्ति) का, हरिको बिना समर्पण किये हुए सत्कर्मोंके करनेका॥ ८॥ और बिना विवेकके उत्पन्न कराये हुए (अर्थात् विद्या पढ़नेसे ज्ञान उत्पन्न न हुआ तो उस) विद्याके पढ़नेका फल श्रममात्र है। अर्थात् ये सब व्यर्थ हैं॥ ९॥ विषय एवं विषयीके संगसे संन्यासी, बुरी सलाहसे राजा, मानसे ज्ञान, मदिरापान करनेसे लज्जा, बिना प्रणयकी प्रीति और मदसे गुणवान्‌का शीघ्र नाश होता है—ऐसी नीति सुनी है॥ १०-११॥ शत्रु, रोग, अग्नि, पाप, समर्थ स्वामी और सर्प इनको छोटा करके न समझना चाहिये।—ऐसा कहकर वह अनेक प्रकारसे विलाप करती हुई रोने लगी॥ २१॥

नोट—१ ***'राज नीति बिनु''''''''नासहिं बेगि'*** से मिलते हुए श्लोक भर्तृहरिनीतिशतकमें यह

हैं—'**दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः संगात्सुतो लालनात्। विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात्॥ ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रयात्। मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात् प्रमादाद्धनम्॥**' (भर्तृहरि-नीति० ४१) अर्थात् बुरी सलाहसे राजा, लगावसे संन्यासी, लाड़-प्यारसे बेटा, न पढ़नेसे ब्राह्मण, बुरी संततिसे कुल, खलोंके संगसे चरित्र, मदिरासे लज्जा, देखभाल न करनेसे खेती, विदेशमें रहनेसे स्नेह, प्रणयके अभावसे मैत्री, अन्यायसे ऐश्वर्य, प्रमाद (मन-मुखी-त्याग) से धन नष्ट हो जाता है।

टिप्पणी—१ (क) *'राज नीति बिनु'* इति। नीति न जाननेसे, नीतिविरुद्ध करनेसे प्राप्त राज्य भी हाथसे निकल जाता है। यथा—*'राजु कि रहइ नीति बिनु जानें।'* (७। ११२) '**दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति।**' (भर्तृहरि) (ख) [नीतिके अनेक अङ्ग हैं। उनमेंसे मुख्य है देशका बराबर क्षण-क्षणका हाल जानना। इनमें रावणकी असावधानता देखी गयी कि सारा जनस्थान विनष्ट हो गया, वह देश हाथसे निकल गया, सब राक्षस सुभट मारे गये और रावणको खबर भी न हुई। वाल्मी० ३। ३३ पूरे सर्गमें शूर्पणखाकी डाँट-फटकार है। उसने कहा है कि जिस राजाके गुप्तचर, कोष और नीति उसके अधीन नहीं रहते, वह सामान्य मनुष्य हो जाता है। तुम मदिरा पिये स्त्रियोंमें आसक्त रहते हो, तुम्हारे नीतिरूप नेत्र नहीं हैं, इसीसे तुम्हें खबर नहीं कि तुम्हारा जनस्थान विनष्ट हो गया, यथा—'**येषां चाराश्च कोषश्च नयश्च जयतां वर। अस्वाधीनता नरेन्द्राणां प्राकृतैस्ते जनैः समाः।**' (९) पुनश्च— '**पानासक्तः स्त्रीविजितः**'''**। चारचक्षुर्विहीनस्त्वं कथं राजा भविष्यति॥**' (४२)''' **जनस्थानमशेषेण मुनीनां निर्भयं कृतम्। न जानासि विमूढस्त्वमत एव मयोच्यते॥**' (अ० रा० ३। ५। ४४) ये सब *'राज नीति बिनु'* में आ गये। प्रस्तुत प्रसंग नीतिका है अतः नीतिहीसे उपदेशका आरम्भ हुआ।] (ग) *'धन बिनु धर्मा'* इति। धन प्राप्त है पर यदि उसे धर्ममें न लगाया तो उस धनका होना न होना बराबर है। उस धनकी प्राप्तिमें जो श्रम हुआ वह व्यर्थ ही समझना चाहिये। यदि धन धर्ममें लग गया तो उसकी प्राप्तिका श्रम सफल है, वही धन धन्य है। यथा—*'सो धन धन्य प्रथम गति जाकी।'* (७। १२७। ७)

नोट—२ *'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा'* इति। सत्कर्म करके उनको भगवान्को अर्पण करना चाहिये। ☞स्मरण रहे कि सम्पूर्ण कर्म मनुष्यके जन्ममरणरूप संसारके कारण हैं, पर यदि वे ही कर्म भगवदर्पण कर दिये जायँ तो वे कर्म आप ही अपने नाशके कारण हो जाते हैं अर्थात् फिर उन कर्मोंका फल नहीं भोगना पड़ता। ईश्वरार्पणबुद्धिसे रहित कर्म कभी भी शोभित नहीं हो सकता। कर्मोंके समर्पित कर देनेसे वे तापत्रयकी ओषधि हो जाते हैं। यथा—'**एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः। त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥**' (३४) '**कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥**'(१२) '''''''**ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम्। यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम्॥**' (३२)—(भा० १। ५)। भा० ३। ९। १३ में ब्रह्माजीके वाक्य हैं कि भगवान्को अर्पण किया धर्म कभी क्षीण नहीं होता, यथा—'**धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद् ध्रियते न यत्र।**' अतः कहा कि *'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा। श्रम फल पढ़े किए।'* भागवत १२। १२। ५२ में भी कहा है कि जो कर्म भगवान्को अर्पण नहीं किया जाता, वह चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न हो, सर्वदा अमङ्गलरूप और दुःख देनेवाला ही है वह शोभन हो ही कैसे सकता है? ये सूतजीके वचन हैं। यथा—'**नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्। कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न ह्यर्पितं कर्म यदप्यनुत्तमम्॥**'

श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षित्से भा० २। ४। १७ में कहा है कि बड़े-बड़े तपस्वी, दानी, कीर्तिमान्, मनस्वी और सदाचारपरायण मन्त्रवेत्ता भी अपने-अपने कर्मोंको अर्पण किये बिना कल्याण प्राप्त नहीं कर सकते। यथा—'**तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः। क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥**' गीतामें भगवान्के '**चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।**''''''''''' (१८। ५७) से भी यही आशय निकलता है। इसीसे तो मानसमें राजा भानुप्रतापके सम्बन्धमें कहा कि *'करै जे धरम करम मन बानी। बासुदेव अर्पित नृप ग्यानी॥'* (१। १५६) ☞अतएव प्रत्येक हिन्दू क्या मनुष्यमात्रको सब कर्मोंको समर्पण करते रहना उचित है? इससे लोक-परलोक दोनों बनेंगे।

टिप्पणी—२ (क) *'हरिहि समर्पे.........'* इति। जो बिम्बमें क्रिया होती है वही प्रतिबिम्बमें होती है। ईश्वर बिम्ब है। बिना ईश्वरके अर्पण किये उसका फल जीवमें नहीं आप्राप्त हो सकता। सत्कर्मोंको हरिको समर्पण करना चाहिये। यथा—**'क्लेशभूर्य्यल्पसाराणि कर्माणि विफलानि वा। देहिनां विषयार्त्तानां न तथैवार्पितं त्वयि'** (भा० ८। ५। ४७), (ख) *'बिद्या बिनु बिबेक उपजाए। श्रम फल पढ़े'* इति। *'उपजाए'* शब्दसे यह रूपक बना कि विद्यारूपिणी स्त्रीसे विवेकरूप पुत्र उत्पन्न किये बिना श्रम ही फल है। जैसे वन्ध्या (बाँझ स्त्री) में पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता, उससे पुत्रकी चाह करनेमें श्रममात्र होगा, वैसे ही विवेक न हुआ तो विद्या बाँझ सरीखी है। विद्याका पढ़ना व्यर्थ हुआ। (ग) *'धन बिनु धर्मा'* से कर्मकाण्ड, *'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा'* से उपासना काण्ड और *'बिद्या बिनु बिबेक उपजाए'* से ज्ञानकाण्ड कहा। ज्ञान उत्पन्न हुआ तब विद्याका फल है। (घ) *'श्रम फल पढ़े किये अरु पाये'* इति। यहाँ 'प्रथम विनोक्ति' अलंकार है। एक-एकके बिना एक-एककी न्यूनता कथन की है। राज्य, धन, सत्कर्म और विद्या चार वस्तुएँ कहकर फिर कहा है कि यदि इनके साथ ये चार गुण न हों तो विद्याका पढ़ना, सत्कर्मका करना, धन और राज्यका पाना केवल श्रममात्र है। (यहाँ पूर्वोक्त वर्ण्य) वस्तुओंका क्रम पलटकर अर्थात् विपरीत क्रमसे वर्णन हुआ है, यह भी 'यथासंख्य अलंकार' है और इसको 'विपरीत क्रमालंकार' भी कहते हैं। यहाँ 'पढ़े', 'किये' और 'पाए'को क्रमशः 'विद्या', 'सत्कर्म', 'धन', 'राज्य'के साथ लगाकर अर्थ करना होगा।

नोट—३ *'संग ते जती'* इति। *'संग'* =आसक्ति। आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है। आसक्तिकी परिपक्वावस्थाका नाम काम है। जिस दशाको प्राप्त होकर मनुष्य विषयोंका भोग किये बिना रह नहीं सकता, वह दशा 'काम' है। काम बना रहे और कामनानुसार विषयोंकी प्राप्ति न हो तो उस समय पास रहनेवाले पुरुषोंपर क्रोध होता है कि इन लोगोंके द्वारा हमारा अभीष्ट विषय नष्ट कर दिया गया। क्रोधसे कर्तव्याकर्तव्यका विवेक नहीं रह जाता। उसके कारण मनुष्य सब कुछ कर डालता है। उससे फिर इन्द्रिय-जय आदिके लिये प्रारम्भ किये हुए प्रयत्नकी स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृतिके नाशसे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये जो निश्चय किया था उसका अर्थात् बुद्धिका नाश हो जाता है, जिससे जीव संसार-सागरमें डूबकर नष्ट हो जाता है। 'संग' सबका मूल है। इसीसे कहा कि संगसे यतमान पुरुषका नाश होता है। गीतामें भगवान्‌ने यही कहा है—**'सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥'** (गीता २। ६२-६३) [यहाँ *'यती'* शब्द परमार्थसाधकके अर्थमें है। (प० प० प्र०)]

नोट—४ *'कुमन्त्र ते राजा'* इति। कुमन्त्रसे राजाका नाश होता है—**'दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति'** इति भर्तृहरि (पूर्वोक्त), *'सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस। राज धर्म तन तीन कर होइ बेगि ही नास॥'* (५। ३७) रावणको मन्त्रियोंने भयसे ठीक सलाह न दी, इसीसे उसका नाश हुआ। प्रहस्तने कहा कि *'कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती। नाथ न पूर आव एहि भाँती।.... सुनत नीक आगे दुख पावा। सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा॥'* (६। ९)

नोट—५ *'मान ते ज्ञान'* इति। ज्ञानमें एक भी मान न चाहिये, मानसे ज्ञानका नाश होता है। *'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।'* (१५। ७) देखिये। रावणको बड़ा अहंकार है कि मेरे समान कोई नहीं है, इसीसे उसका ज्ञान नष्ट हो गया। रावणको मान है, यथा—*'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस।'* (५। ३९) (विभीषण-वाक्य), *'की तजि मान.......।'* (५। ५६) (लक्ष्मणवाक्य), *'तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू।'* (६। ३६) (मंदोदरी वाक्य)। उसका ज्ञान जाता रहा; यथा—*'पियहि काल बस मति भ्रम भयऊ॥'* (६। १६) *'काल बिबस मन उपज न बोधा।..........तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं।'* (लं० ३६)

टिप्पणी—३ *'पान ते लाजा'* अर्थात् मदिरा पीनेसे लज्जा जाती रहती है। प्रथम उसने यह कहा कि *'करसि पान सोवसि दिन राती'* और फिर यहाँ *'पान ते लाजा'* यह नीति कहकर जनाया कि तू निर्लज्ज

हो गया है, मेरी यह दुर्गति हुई तो भी तुझे लज्जा नहीं। यथा—'*सूपनखा कै गति तुम देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी॥*' (६। ३५)

वै०, रा० प्र० श०—'*प्रीति प्रनय बिनु*' इति। प्रीतिके आठ अङ्ग हैं जिनमेंसे एक 'प्रणय' है। इन आठोंके अलग-अलग भेद हैं। प्रणय—'*मम तव तव मम प्रणय यह*'—मैं तुम्हारा हूँ तुम हमारे हो, मेरा तुम्हारा है, तुम्हारा मेरा है—यही प्रणय है। लङ्का छोड़ते समय विभीषणजीने भगवान्‌से कहा है—'*देस कोस मंदिर संपदा। देहु कृपालु कपिन्ह कहँ मुदा॥ सब बिधि नाथ मोहि अपनाइय।*' इसपर भगवान्‌ने कहा कि—'*तोर कोस गृह मोर सब*' अर्थात् तेरा कोश, गृह सब कुछ मेरा है—यह प्रणय है। जबतक यह बातें नहीं हैं, प्रीति न रहेगी।

नोट—६ वैष्णवरत्न स्वामी श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसादजी (रूपकला) 'आदर्श हिन्दू परिवार' शीर्षक लेखमें लिखते हैं—'प्रेमको सर्वोच्च भावोंसे पूर्ण बनानेके लिये उसमें विनयका समावेश होना चाहिये। प्रत्येक प्राणी किसी-न-किसी अंशमें आदरका पात्र है। केवल इसलिये कि वह मनुष्य है, ईश्वर उसे प्यार करता है और वह ईश्वरसे प्रेम करनेकी क्षमता रखता है। परंतु जिन्हें हम सबसे अधिक प्यार करते हैं उनका सम्मान भी हम अवश्य उतना ही करते हैं। श्रीलक्ष्मणजी कितने गम्भीर भावसे श्रीरामभद्रका अदब करते थे। वे उनके चरणचिह्नपर भी लात नहीं रखते थे—'*सीयरामपद-अंक बराए। लषन चलहिं मगु दाहिन लाए॥*' भगवती सीताजी पतिको ईश्वरके समान पूजती थीं और उनकी पतिभक्तिमें माधुर्य और पवित्रताका समावेश ऐसा हुआ था कि उनका चित्र और चरित्र सर्वतोभावसे नितान्त अनुपम प्रमाणित हुआ। पूज्यबुद्धि और प्रेमभावतत्त्व तभी चरितार्थ होगा जब हम अपने पूज्य और प्रेमपात्रको कभी भी स्वार्थसिद्धिका साधन न बनानेकी प्रतिज्ञा करें, हम उसके दर्शनका प्रतिफल भी उसीको समझें अर्थात् हमें तत्सुखभावना रखनी चाहिये और स्वसुख होनेकी क्षुद्रवासनाको निकाल देनी चाहिये। जो पति अपनी प्रियतमाको कामपिपासा शान्त करनेकी वस्तु या सन्तान उत्पन्न करने या गृहपरिचर्याका मुख्य साधन समझता है वह पतिके पवित्र नामको धारण करनेकी योग्यता नहीं रखता। इसी तरह वह भार्या भी पत्नी कहलाने योग्य नहीं है जो पतिको केवल रोटी-लूगा देनेवाला और सन्तानका पालन-पोषण करनेवाला समझती हो। सच्चा हिन्दू पति जिसने श्रीरामायण अच्छी तरह पढ़ी है अपनी भार्याको केवल उसी रामायणी आदर्शभावसे प्यार करेगा, क्योंकि वह अपनी प्रियतमा पत्नीको अपनेसे भिन्न कदापि नहीं समझता है। उसी तरह प्रीति, प्रतीति और पवित्रतामयी सच्ची हिन्दूपत्नी भी अपने पतिको उसी आदर्शसे प्यार करेगी, क्योंकि कम-से-कम उसकी दृष्टिमें मनुष्योंमें वह देवता तो अवश्य है। इस प्रकार प्यार करना भक्तिपूर्वक प्यार करना कहलाता है। परन्तु वह प्रेम जो चरितार्थ न हुआ या जिसका सेवा-धर्ममें विकास न हुआ वन या निर्गन्ध पुष्पके सदृश है। ऐसा प्रेम धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है और एक दिन उसका सर्वथा ह्रास हो जाता है। केवल संस्कारमात्र सूक्ष्मरूपमें रह जाता है। इसीसे कहा है कि '*प्रीति प्रनयबिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी॥*'

प्रेमकी सजीवता जाती रहती है यदि प्रेमी प्रियतमपर अपने-आपको वार देनेकी प्रबल इच्छा न प्रदर्शित करे। साधारण अहर्निशिके मामूली व्यवहारमें भी अपने सुखको, अपने आरामको, अपने स्वत्वको दूसरेके लिये अर्पण करनेकी सदा चेष्टा करना ही सजीव प्रेम है।

वह उसी तरहका प्रेम था जिसे लक्ष्मणकुमारने उस समय प्रदर्शित किया जब एक दिन महान् कष्ट उठानेके पीछे भाई और भाभीके विश्रामस्थलकी उन्होंने रातभर जागकर पहरा दी। और वह भी इसी प्रकारका प्रेम था जिसकी प्रेरणासे श्रीरामभद्रने भगवती सीता और लक्ष्मणकुमारके व्याकुल मनको बहलानेके लिये तरह-तरहकी आख्यायिकाएँ कही थीं।

☞मित्रके यहाँ जाकर भी उससे विदा माँगकर लौटना भी प्रीतिका प्रणय अङ्ग है। दोहा (१। ४८। ५-६) भाग २ देखिये।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—१ *'नीति अस सुनी '* इति। शूर्पणखा रावणको नीतिके सिद्धान्त तो सुना रही है पर यह सब उपदेश शुद्ध भावसे रावणका हित करनेके लिये नहीं है किन्तु डाह बुद्धिसे है। नीति सुनाती है पर जो वचन आगे कहेगी वह केवल इसलिये कि रावण अनीति और महत्पाप परदारापहरण करनेको प्रवृत्त हो जाय।—*'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥'* रावणकी भी ऐसी ही स्थिति है; यथा—*'तिन्हहि ज्ञान उपदेसा रावन। आपन मंद कथा सुभ पावन॥'* (गौड़जीका नोट २२ (८) में देखिये।)

२ शूर्पणखाके इन वचनोंसे इतना तो सिद्ध होता ही है कि क्रूर मायाविनी राक्षसी होकर भी उसने राजनीति, धर्मनीति इत्यादिका पर्याप्त श्रवण किया है। भले ही शब्दज्ञान ही क्यों न हो, तथापि '**कः कालः फलदायकः**' यह कोई जानता नहीं। इसलिये शब्दज्ञानरूपी बीज बोना और उस शास्त्रज्ञानरूपी वृक्षका पालन-पोषण करना ही चाहिये। पर आज जो दशा है वह शोचनीय हो रही है।

टिप्पणी—४ (क) *'नीति अस सुनी।'* *'सुनी'* से जनाया कि पढ़ी-लिखी नहीं है, इसीसे सुनी हुई कहती है। (ख) *'रिपु रुज पावक'* इति। आते ही प्रथम कहा था कि *'सुधि नहिं तव सिरपर आराती'*, इसीसे यहाँ प्रथम *'रिपु'* को गिनाया। इसीसे यहाँ प्रयोजन भी है और तो उदाहरण मात्र हैं। (ग) *'गनिय न छोट करि।'* भाव कि राम-लक्ष्मण दोनों देखनेमें छोटे हैं। उनकी छोटी अवस्थापर न भूल जाना।

नोट—७ बाबा हरीदासजी *'राज नीति बिनु'* से लेकर *'गनिय न छोट करि'* में आयी हुई सब बातोंको रावणमें घटाते हैं। वे पहले इस दोहेको लेते हैं। *'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि०'* इति। रिपु तुम्हारे सब देवता हैं। वे श्रीराम-लक्ष्मणको सहायक पाकर इस अवसरपर बली हुए हैं। वानररूपसे वे प्रबल हैं जिनको तुमने छोटा मान रखा है। तुम्हारे शरीरसे तुम्हारे पुत्र-नाती आदि जो उत्पन्न हुए वे कुमार्गी तुम्हारे शरीरके रोग हैं। रावणको कालरूप रोगने घेरा है। उसके मन्त्री उसे कुमन्त्ररूपी कुपथ्य देकर नाश करना चाहते हैं। मन्दोदरीने कहा है—*'निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥'* (३। ३६) विभीषणजीने भी कहा है *'सभा काल बस तोरि।'* विभीषण वैद्यरूप हैं। उनका सम्मत ओषधिरूप है। तुम उसका निरादर करते हो, अतः तुम्हारा नाश होगा। हनुमान्‌जी ग्यारहवें रुद्र पावक रूप हैं जिन्होंने बाल्यावस्थामें ही सूर्यके तेजको मंद कर दिया। उनको वैष्णव जानकर तुमने उनका पूजन न किया, दस रुद्रोंका किया। वे पावकमें अपना तेज प्रकट कर तुम्हारे नगरको जला देंगे। जीवहिंसा बड़ा भारी पाप है। तुमने जो मुनियोंको मार-मारकर खाया है वह सब पाप तुम्हारे नाशके लिये उदय हुआ है। तुमने अहि (शेषजी) का अनादर किया, वे धरणीधर हैं। तुम पृथ्वीपर भाररूप हुए, अतः वे लक्ष्मणरूपसे महिभार हरण करनेके लिये प्रकट हुए हैं। नाशके यह छः हेतु कहकर वह विलाप करने लगी। शूर्पणखाको लक्ष्मणजीके स्पर्शमात्रसे यह दिव्य ज्ञान उत्पन्न हो गया।

अब चौपाइयोंको लेते हैं। *'राज नीति बिनु.........'* भाव कि नीतिका मुख्य अङ्ग है देशका बराबर क्षण-क्षणका हाल जानना, पर सारा जनस्थान विनष्ट हो गया और तुझे खबर भी नहीं। तब राजनीति तेरी रक्षा कब करेगी। *'धनु बिनु धर्म'* अर्थात् तू समझता है कि लङ्का सोनेकी है, पारसमणियोंकी कोठी भरी है, धन हमारी रक्षा करेगा। पर यह नहीं होनेका, क्योंकि तेरा धन धर्ममें नहीं लगा और सब अधर्मका कमाया हुआ है। अतः वह रक्षा न करेगा और लङ्का भस्मसात् हो जायेगी। *'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा'* का भाव कि यदि कहो कि हमने बहुत सत्कर्म किये हैं वह रक्षा करेंगे, सो भी नहीं क्योंकि तेरे सत्कर्म हरिको समर्पण नहीं किये गये। *'बिद्या बिनु बिबेक उपजाए'* का भाव कि यदि कहो कि हमने वेदोंपर भाष्य किया है विद्याबलसे हमारी रक्षा होगी, सो भी नहीं क्योंकि विद्या होती है ईश्वरको जाननेके लिये, तूने ईश्वरको जाना नहीं, अतः वह व्यर्थ हुई, रक्षा न करेगी। *'संग ते जती'* का भाव कि यदि कहो कि हमने शिवजीको सिर चढ़ाकर कालको जीता है, यह यतिका काम किया है। अतः काल हमें नहीं जीत सकता। सो यह भी नहीं होनेका, क्योंकि तुम्हारा मन विषयोंमें आसक्त होनेसे तुम योगभ्रष्ट हो।

'कुमंत्र ते राजा' का भाव कि तुम्हारे मन्त्री कुमन्त्री हैं अतः तुम्हारा नाश होगा। *'मान ते ज्ञान'* का भाव कि तुम्हें बहुत अभिमान है अतः तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी, ज्ञान जाता रहा। इससे ज्ञान तुम्हारी रक्षा न करेगा। *'पान ते लाजा'* का भाव कि निर्लज्जकी रक्षा कोई नहीं करता। तू मदिरा पान कर निर्लज्ज हो गया है। अपने भाई कुबेरकी पुत्रवधू उर्वशीके साथ तूने बलात्कार किया तब लज्जा कहाँ रह गयी। *'प्रीति प्रनय बिनु'* का भाव कि तू सोचता है कि मेरे मित्र मेरी रक्षा करेंगे पर तू कटुवादी है, तुझमें नम्रता है ही नहीं, अतएव वे भी तेरी सहायता न करेंगे। *'मद ते गुनी'* का भाव कि तुमको राज्यमद है, इससे तुममें जो भी गुण हैं वे सब नष्ट हो गये। अङ्गदने कहा ही है— *'धर्महीन प्रभु पद-बिमुख काल बिबस दससीस। तेहि परिहरि गुन आए सुनहु कोसलाधीस॥'* (६। ३७)

यहाँ शूर्पणखाने सोलह बातें कहकर समझाया। कारण कि जीवोंमें सोलह कलाके तेजस्वी होते हैं। देवताओं और ईश्वरमें अनन्त कलाएँ हैं। सोलह कहकर जनाया कि तेरी सब कलाएँ क्षीण हो हो गयी है। (शीला)

नोट—८ चौपाइयों (*'राजनीति'* से *'नीति असि सुनी'* तक) में राजा ही वर्ण्य-विषय है, शेष सब अवर्ण्य हैं, केवल लोक-शिक्षार्थ सबका धर्म एक ही होनेसे कह दिये गये। कारण भिन्न-भिन्न हैं, *'नासहिं'* धर्म सबका एक है। इसी तरह सोरठामें *'रिपु'* वर्ण्य है, रुज पावक पाप आदि अवर्ण्य हैं। सबका एक ही धर्म *'गनिय न छोट करि'* होनेसे वे भी कह दिये गये। अतः दोनों जगह 'दीपक अलंकार' हुआ। (वीर)

दोहा—सोभा माँझ परि ब्याकुल बहु प्रकार कह रोइ।
तोहि जियत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ॥ २१॥

अर्थ—सभाके बीचमें व्याकुल पड़ी हुई बहुत प्रकारसे रो-रोकर शूर्पणखा कह रही है कि अरे दसकंधर! तेरे जीतेजी क्या मेरी ऐसी दशा होनी चाहिये॥ २१॥

नोट—१ भाव यह है कि तुझ ऐसे विश्वविजयी भ्राताके जीवित रहते हुए कोई मेरे नाक-कान काटकर स्वच्छन्द सुखपूर्वक जीता रहे, यह न होना चाहिये, तेरे रहते मेरी दशा अनाथ विधवाकी-सी न होनी चाहिये। आशय कि तू चलकर उनसे जूझ, लड़कर उन्हें जीत जिससे मेरी छाती ठंढी हो या मर जा।

प० प० प्र०—स्त्री जाति जब प्रबल हो जाती है तब स्त्री-मायाका फैलाना उनके बायें हाथका खेल-सा है। उनका रुदन, उनका विलाप वीरोंके हृदयको भी द्रवीभूत कर देता है। यथा—*'तब कुबरी तिय माया ठानी।'* देखिये *'नारिचरित जलनिधि अवगाहू॥'* (२। २७। ६) से *'मागि मकु लेहू॥'* (२। २८। ३) तक। नारि-चरित्रका एक नमूना (सतीजी) बालकाण्डमें, दो नमूने (मन्थरा और कैकेयी) अयोध्यामें और एक (शूर्पणखा) अरण्यकाण्डमें है। इनमेंसे सतीजी सत्वप्रधान, मन्थरा रजःप्रधान तम और कैकेयी सत्वप्रधान-तमोगुणी हैं। ☞इनसे विरुद्ध नमूने भी मानसमें अनेक हैं, जैसे, बालमें श्रीकौसल्या, सुमित्रा और कैकेयीजी, अयोध्या और सुन्दरमें श्रीसीताजी, अरण्यमें अनसूयाजी, किष्किन्धामें तारा और लङ्कामें मन्दोदरी इत्यादि।

नोट—२ *'दसकंधर'* सम्बोधन करके जनाती है कि तेरे तो दस शिर हैं, तेरे रहते एक शिरवालेने मेरी यह दुर्दशा कर दी।

नोट—३ *'असि'* से ऐसा भी भाव कहते हैं कि अभीतक मुँहपर कपड़ा ढाँपे हुए थी, अब मुँह खोलकर इशारा करके, दिखाकर कहती है कि ऐसी दुर्दशा मेरी हो। मुँह छिपाये न होती तो अबतक रावण चुप न बैठा रहता।

सुनत सभासद उठे अकुलाई। समुझाई गहि बाँह उठाई॥ १॥
कह लंकेस कहसि निज बाता। केइ तव नासा कान निपाता॥ २॥

अर्थ—यह सुनते ही सभासद् अकुलाकर उठे, उसे समझाया और बाँह पकड़कर उसे उठाया॥ १॥ लङ्कापति रावणने कहा कि अपनी बात तो कह कि किसने तेरे नाक-कान काट लिये॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'अकुलाई'*। क्योंकि त्रैलोक्यविजयीकी बहिनके नाक-कान काटनेवाला कोई साधारण पुरुष नहीं हो सकता। सभी रावणसे काँपते हैं, ऐसा कौन करेगा? अवश्य कोई असाधारण पुरुष है। (ख) *'समुझाईं गहि बाँह उठाई।'* समझाया, बाँह पकड़कर उठाया, अर्थात् इतना करनेपर तब उठी, नहीं तो उठती ही न थी। (ग) इस कथनसे कवि जनाते हैं कि राक्षसोंमें मर्यादाका विचार बहुत कम है। सब लोकोंके राजा रावणकी बहिन होकर भी यह स्वतन्त्र वनमें विचरण करती हुई श्रीरामजीसे कामकी वार्ता करने लगी, और यहाँ आकर सभाके बीचमें पड़ी है, सभासदोंने हाथ पकड़कर उठाया।

टिप्पणी—२ (क)—*'कह लंकेस'* कहा। लङ्काका राजा है, राजा नीतिज्ञ होते हैं, नीतिको मानते हैं, अत: नीतिको सुनकर उसे ग्रहणकर पूछा। इसीसे *'लंकेस'* कहा। (ख) *'निज बाता'* का भाव कि अभीतक और सब इधर-उधरकी कही पर अपनी बात जरा भी न बतायी। (ग) सभासदोंके समझानेसे न समझी तब रावणने स्वयं समझाया और पूछा। इसीको प्रेरित करने आयी थी—*'जाइ सूपनखा रावन प्रेरा॥'* (२१। ५) इसीसे इसके पूछनेपर कहेगी।

अवधनृपति दसरथ के जाए। पुरुषसिंघ बन खेलन आए॥ ३॥
समुझि परी मोहि उन्ह कै करनी। रहित निसाचर करिहहिं धरनी॥ ४॥
जिन्ह कर भुजबल पाइ दसानन। अभय भए बिचरत मुनि कानन॥ ५॥
देखत बालक काल समाना। परम धीर धन्वी गुन नाना॥ ६॥
अतुलित बल प्रताप द्वौ भ्राता। खलबधरत सुरमुनि-सुखदाता॥ ७॥

अर्थ—अवधके राजा दशरथके पुत्र जो पुरुषोंमें सिंहवत् हैं वनमें शिकार खेलने आये हैं॥ ३॥ मुझे उनकी करनी ऐसी समझ पड़ी है कि वे पृथ्वीको निशिचरहीन कर देंगे॥ ४॥ जिनकी भुजाओंका बल पाकर हे दशमुख! वनमें मुनिलोग निर्भय होकर विचर रहे हैं॥ ५॥ देखनेमें तो वे बालक हैं पर हैं कालके सदृश। वे परम धीर, धनुर्विद्यामें निपुण और अनेक गुणयुक्त हैं॥ ६॥ दोनों भाइयोंका अनुपम बल और प्रताप है। वे खलोंके वधमें तत्पर हैं, तथा देवता और मुनियोंको सुख देनेवाले हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) *'अवधनृपति दसरथके जाए'* यह कैसे जाना? लक्ष्मणजीके वचनसे। यथा—*'प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा।'* (१७। १४) इस प्रसङ्गसे उसने इन्हें दशरथपुत्र कहा। (ख) *'पुरुषसिंघ बन खेलन आए'* और *'रहित निसाचर करिहहिं धरनी'* से जनाया कि उसने श्रीरामजीका उत्तर, जो खरदूषणको उन्होंने भेजा था, सुना है, यथा—*'हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥'* (१९। ९) इससे और खरदूषणादिके नाशको समझकर उसने कहा कि निशिचररहित कर देंगे। *'रहित निसाचर करिहहिं'* अर्थात् पृथ्वीका भार उतारेंगे। (ग) इस प्रसङ्गमें *'पुरुषसिंघ......'* से रावण और कुम्भकर्ण दोनोंका (दोनोंके पूर्व जन्मका) प्रसङ्ग निकलता है। पूर्व जन्ममें जब रावण हिरण्यकशिपु था तब जो पुरुष (नर) सिंह हो अवतीर्ण हुए थे वे ही अब नृपतिरूपमें हैं। पुन:, जो वन खेलनेवाले शूकर रूप अवतीर्ण हुए थे वे ही नृपतिरूप होकर आये। पहले वन (=जल) में शूकररूपसे खेले, अब वन (जंगल) में खेलने आये। वनमें खेलनेसे शेष लक्ष्मणजी भी साथ आये हैं। (खर्रा)

नोट—१ अ० दी० कार शङ्का करते हैं कि 'शूर्पणखाने श्रीरघुनाथजीसे तो छलयुक्त बातें कीं। यथा—*'अब लगि रहिउँ कुमारी'* इत्यादि। पर रावणके समीप उसने कपटरहित बात कही कि *'रहित निसाचर करिहहिं धरनी।'* यह क्यों? और उसका समाधान यह करते हैं कि लक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं। उनके हाथकी तलवारसे वह अङ्कित हुई। ☞इस स्पर्शसे उसकी पूर्वकी छलबुद्धि जाती रही।

नोट—२ *'पुरुषसिंघ बन खेलन आए'* इति। वह उन्हींको सिंह समझती है और सबको नामर्द समझती

है। इस शब्द (पुरुषसिंह) को देकर गोस्वामीजीने स्त्रीके उस मनोभावका अच्छा प्रदर्शन किया है कि जिस मनोभावसे स्त्री किसी पुरुषपर आसक्त होती है। अर्थात् इस पुरुषके सिवा उसे संसार भरमें कोई पुरुष ही नहीं दिखायी पड़ता। *खेलन* =सैर करने। (दीनजी)

नोट—३ *'पुरुषसिंह'* का रूपक इस प्रकार है। रणस्थलमें उनका अवस्थान करना ही सन्धि और बाल है। रणकुशल राक्षस गजेन्द्र हैं जिनको यह नर-सिंह मारनेवाला है। शर ही इसके अङ्ग हैं जिससे यह पूर्ण है। तीक्ष्ण अग्नि ही इसके दाँत हैं यथा—**'असौ रणान्तःस्थितिसंधिवालो विदग्धरक्षोमृगहा नृसिंहः। सुप्तस्त्वया बोधयितुं न शक्यः न शराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः॥'** (वाल्मी० ३। ३१। ४७) यह मारीचने रावणसे कहा है। यह सब भाव 'पुरुषसिंह' से जना दिया है।

टिप्पणी—२ (क) *'जिन्ह कर भुज बल पाइ·······'* यथा—*'जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा॥'* (१४। १) (ख) *'देखत बालक काल समाना।'* यथा—*'मुनिपालक खल सालक बालक।'* (१९। ११) यहाँतक श्रीरामजीका उत्तर सुना हुआ कहा। और, *'परम धीर धन्वी गुन नाना'* यह अपने आँखों (युद्धमें) देखी कही। प्रभुने जो खरदूषणको उत्तर दिया था वह और युद्धका पराक्रम इसके हृदयमें विंध गया है। वही सब कह रही है। *'परम धीर'* क्योंकि सेनासे घिरनेपर भी हँसते ही रहे।

सोभाधाम राम अस नामा। तिन्ह के संग नारि एक स्यामा॥ ८॥
रूपरासि बिधि नारि[1] सँवारी। रति सत कोटि तासु बलिहारी॥ ९॥

शब्दार्थ—**स्यामा**=सोलह वर्षकी अवस्थाकी। यथा—**'शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला। सर्वावयव शोभाढ्या सा श्यामा परिकीर्तिता॥'**—(प्रदीपोद्योते)=जिसके अभी पुत्र न हुआ हो। = जो अपने मध्यस्थ युवावस्थामें हो। इत्यादि।

अर्थ— वे शोभाके धाम हैं। उनका 'राम' ऐसा नाम है। उनके साथ एक श्यामा स्त्री है॥ ८॥ जो रूप (सौन्दर्य) की राशि है। ब्रह्माने उस स्त्रीको सँवारकर बनाया है। सौ करोड़ (असंख्य) रतियाँ उसपर निछावर हैं॥ ९॥

टिप्पणी—१ *'सोभाधाम राम अस नामा'* इति। (क) शूर्पणखा स्वयं इनको देखकर मोहित हुई है और अपने भाई खरदूषणको भी यह कहते सुना है कि *'हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥'*, अतः देखी सुनी दोनोंके प्रमाणसे 'शोभाधाम' कहा। जान पड़ता है कि वह शोभा इसके हृदयमें गड़ गयी है, इसीसे प्रथम इसीको कहा। (ख) *'तिन्ह के संग नारि एक स्यामा'* अर्थात् यह रामकी भार्या है। २ (क) *'रूपरासि'* अर्थात् जैसे राम शोभाधाम हैं वैसे ही यह रूपकी राशि ही है। (ख) *'रति सत कोटि तासु···'* इति। भाव कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक ही 'रति' होती है, सौ करोड़ ब्रह्माण्डोंकी 'रतियाँ' एकत्र हो जायँ तो भी उस रूपराशिको नहीं पा सकतीं, वे सब तुच्छ हैं, इसके रूपपर निछावर हैं। अर्थात् एक ब्रह्माण्डकी कौन कहे सौ करोड़ ब्रह्माण्डोंमें ऐसी सुन्दर स्त्री नहीं मिल सकती।

दीनजी—*'रूपराशि'*। जो सपत्नी होने गयी थी उसीके मुखसे स्त्रीका सौन्दर्य परिपूर्ण वर्णन होना जनाता है कि कैसा अपूर्व सौन्दर्य होगा, यद्यपि यहाँ रावणको उत्तेजित करनेके लिये ही यह कहा गया है तो भी वह (Uppermost idea) सर्वोपरि बात जो मनमें होती है किसी-न-किसी तरह निकल ही आती है, रुकती नहीं।

[अकम्पन और शूर्पणखा दोनोंने श्रीसीताजीके सौन्दर्यके सम्बन्धमें कहा है कि देवी, गन्धर्वी, किन्नरी, अप्सरा आदि कोई भी स्त्री सीताके समान नहीं है। यथा—**'नैव देवी न गन्धर्वी नाप्सरा न च पन्नगी। तुल्या सीमन्तिनी तस्य मानुषी तु कुतो भवेत्॥'** (वाल्मी० ३। ३१। ३०)]

---

१ रची—को० रा०।

गौड़जी—शूर्पणखाने नीतिके वाक्य कहकर रावणकी शासनबुद्धिको उभारा। फिर वह रावणके कामी स्वभावको उत्तेजित करनेके लिये प्रसङ्गसे *'नारि एक स्यामा'* की भी सूचना देती है। अपने अपराधको ध्वनिसे बताती है कि शोभाधाम हैं, इनपर रीझी थी, परन्तु वह हमारी ओर क्यों निगाह डालने लगे, क्योंकि साथमें तो अप्रतिम सुन्दरी मौजूद थी। राक्षसीका अत्यन्त कामवश होना भी व्याजसे दिखाया है।

तासु अनुज काटे श्रुति नासा। सुनि तव भगिनि करहिँ[१] परिहासा॥ १०॥
खरदूषन सुनि लगे पुकारा। छन महुँ सकल कटक उन्ह मारा॥ ११॥
खरदूषन तिसिरा कर घाता। सुनि दससीस जरे सब गाता॥ १२॥

शब्दार्थ—*'लगे पुकारा'* मुहावरा है 'फरियाद सुनकर सहायता करनेका।'=सहाय हुए।

अर्थ—उन्हींके छोटे भाईने नाक-कान काटे। 'मैं तेरी बहिन हूँ' यह सुनकर हँसी करते थे॥ १०॥ मेरी पुकार लगनेपर अर्थात् फर्याद सुनकर खरदूषण उनसे भिड़े। उन्होंने सारे कटकको क्षणभरमें मार डाला॥ ११॥ खरदूषणका और त्रिशिराका मारा जाना सुनकर दशशीश रावणका सारा शरीर जल उठा। (वह आग भभूका हो गया)॥ १२॥

टिप्पणी—१ (क) *'तासु अनुज काटे श्रुति नासा'* यह रावणके *'केहि तव नासा कान निपाता'* का उत्तर है। शूर्पणखाके नाक-कान काटनेके समय कविने कहा था *'लछिमन अतिलाघव सों नाक कान बिनु कीन्हि। ताके कर रावन कहँ मनहुँ चुनौती दीन्हि॥'* *'तासु अनुज काटे……'* यह कहना ही मानो चुनौती देना है। (ख) *'सुनि तव भगिनि करहिं परिहासा'* अर्थात् तुमको कुछ नहीं समझते। *'सुनि'* से शङ्का होती है कि किससे सुना? इस शब्दसे वह जनाती है कि मैंने उनसे अपना नाम और तुम्हारा सम्बन्ध बताया, तब मुझसे यह सुनकर हँसी-मसखरी करने लगे कि तू अपना विवाह हमारे साथ कर ले। जब मैं क्रुद्ध हुई तब मेरी नाक-कान काट लिये। [मानसके अनुसार तो श्रीरामजी अथवा लक्ष्मणजीने भी किसीके मुखसे सुना नहीं है कि 'शूर्पणखा रावणकी भगिनी' है। उसमें *'लछिमन रिपु भगिनी जानी'* इतना ही उल्लेख है। शूर्पणखाने झूठ ही कहा कि *'सुनि……'* इत्यादि। हाँ वाल्मीकीयमें शूर्पणखा उनके निकट राक्षसीरूपमें ही जाती है और पूछनेपर सब बातें अपने मुखसे ही कह देती है, वहाँ दुराव, रुचिर रूप इत्यादि नहीं है। (प० प० प्र०)] (ग) यहाँ लक्ष्मणजीका नाम उसने नहीं लिया। *'तासु अनुज'* कहा। कारण कि वह नाम न जानती थी। श्रीलक्ष्मणजीने रामजीका नाम बताया पर अपना नाम न बताया था और श्रीरामजीने भी उनका नाम न बताया था। यही कहा था *'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता।'* अथवा, ये शत्रु हैं और शत्रुका नाम न लेना चाहिये। इससे *'तासु अनुज'* कहा। (घ) *'छन महुँ सकल कटक उन्ह मारा।'* यथा—*'करि उपाय रिपु मारे छन महुँ कृपानिधान।'* तथा यहाँ *'छन महँ मारा'* कहा। [अ० रा० में भी क्षणमें मारना कहा है। यथा— **'ततः क्षणेन रामेण तेनैव बलशालिना॥ सर्वे तेन विनष्टा वै राक्षसा भीमविक्रमाः।'**(३। ५। ५२-५३) वाल्मीकीयमें 'क्षण' के बदले 'अर्धाधिकमुहूर्त्तेन' कहा है। क्षणका अर्थ 'थोड़ी ही देरमें' लेनेसे सबका समन्वय हो जाता है।] यहाँ श्रीरामजीकी करनी स्पष्ट कही, अभीतक मुँदी ढकी कही थी।

टिप्पणी—२ *'सुनि दससीस जरे सब गाता'* इति। जब *'सभा माँझ परि ब्याकुल बहु प्रकार कह रोइ'* तब *'सुनत सभासद उठे अकुलाई।'* और जो उसने कहा था कि *'तोहि जिअत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ'* उसके उत्तरमें *'कह लंकेस कहसि निज बाता'* यह चरण है या यों कहिये कि रावणका ऐसा प्रबल वैरी सुनकर सभी व्याकुल हुए और खर-दूषण-त्रिशिराका वध सुनकर रावण व्याकुल हुआ। अब जो सुना कि खरदूषणको उन्होंने मार डाला तब सोचसे *'जरे सब गाता'* सारा शरीर जल उठा, अत्यन्त दाह हुआ। यथा—*'सूखहिं अधर जरहिं सब अंगू। मनहु दीन मनिहीन भुअंगू॥'*

टिप्पणी—३ इस दोहेमें श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला, गुण और धाम ये पाँचों कहे गये हैं,

१ करहि—१७०४। करी—को० रा०।

यथा—(१) *'राम अस नामा'* से नाम। (२) *'अवधनृपति'* से धाम। (३) *'सोभाधाम'* और *'दसरथ के जाए'* से रूप। (४) *'परम धीर धन्वी गुन नाना'* से गुण और (५) *'समुझि परी मोहि उन्ह कै करनी। रहित निसाचर करिहहिं धरनी॥'* से लीला कही।

टिप्पणी—४ इस दोहेमें नवरसात्मक मूर्ति कही है, यथा (१) *'सोभाधाम राम अस नामा। तिन्ह के संग नारि एक स्यामा॥ रूप रासि बिधि नारि सँवारी। रति सतकोटि तासु बलिहारी॥'* में शृङ्गार। (२) *'सुनि तव भगिनि करहिं उपहासा'* में हास्य। (३) *'अभय भये बिचरत मुनि कानन'* में करुण। (४) *'देखत बालक काल समाना'* में रौद्र। (५) *'परम धीर धन्वी गुन नाना'* में वीर। (६) *'खलबधरत'* में भयानक। (७) *'तासु अनुज काटे श्रुति नासा'* में वीभत्स। (८) *'छन महँ सकल कटक उन्ह मारा'* में अद्भुत और, (९) *'सुर मुनि सुखदाता'* में शान्तरस कहा।

इस प्रकार इस प्रसङ्गरूपी समुद्रसे १४ रत्न निकले। ५+९=१४। नाम, रूप, लीला, गुण और धाम—ये पाँच हुए और; शृङ्गार आदि नवोंरस, दोनों मिलकर १४ हुए।

टिप्पणी—५ *'खरदूषन त्रिसिरा कर घाता.........'* इति। पहले उसने कहा कि खरदूषणादिको क्षणभरमें मारा। फिर उसी बातको कविने दुहराकर लिखा है। तात्पर्य कि पहले वचन सुनते ही रावण सूख गया, उसके होश-हवास ठिकाने न रहे तब शूर्पणखाने सब लड़ाईका वृत्तान्त कहा और अबकी तीनों भाइयोंका नाम लिया कि तीनों मारे गये। इसीसे कविने दोहराया।

दोहा—सूपनखहि समुझाइ करि बल बोलेसि बहु भाँति।
गएउ भवन अति सोच बस नीद परै नहिं राति॥ २२॥

अर्थ—शूर्पणखाको समझाकर (रावणने) बहुत तरहसे अपना बल बखान किया। (फिर) अपने महलमें गया। अत्यन्त सोचके वश (उसे) रातमें नींद नहीं पड़ रही है॥ २२॥

टिप्पणी—१ *'सूपनखहि समुझाइ करि बल.....'* इति। (क) शूर्पणखाके *'तोहि जियत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ'* इन वचनोंका प्रभाव रावणके हृदयपर बहुत पड़ा। इसीसे उससे सब हाल सुनकर उसने अब उसे समझाया और बहुत भाँति बलका बखानकर उसे धीरज दिया। (ख) पहले शूर्पणखाको सभासदोंने समझाया था, अब रावणने स्वयं समझाया। *'बल बोलेसि बहु भाँति'* जैसा अध्यात्म और वाल्मीकीयमें है।

नोट—१ वाल्मी० ३। ३१ के अनुसार जनस्थानके नाश और खरदूषणादिके वधका समाचार रावणको अकम्पन राक्षससे मिला जो जनस्थानसे भागकर रावणके पास आया। उससे समाचार पानेपर रावणने जो अकम्पनसे कहा है कि 'मेरा विरोध करके इन्द्र, कुबेर, यम और विष्णु भी सुखपूर्वक नहीं रह सकते। मैं कालका काल हूँ, अग्निको भी जला सकता हूँ, मैं मृत्युको भी मार डालनेका उत्साह रखता हूँ। पवनका वेग अपने वेगसे बलपूर्वक रोक सकता हूँ। क्रोधमें आनेपर मैं सूर्य और अग्निको भी जला सकता हूँ।' वे सब भाव *'बल बोलेसि बहु भाँति'* से कविने जना दिये हैं। श्लोकोंका उद्धरण आगे २३। १-२ में दिया गया है।

मानसमें जो रावणने मन्दोदरी आदिसे कहा है वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिये। कविको आगे विस्तारसे लिखना था इससे यह नहीं लिखा। *'कंपहि लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥'* (५। ३७) (मन्दोदरीसे), *'कहसि न खल अस को जग माहीं। भुजबल जाहि जिता मैं नाहीं॥'* (५। ४१) (विभीषणसे), *'जग जोधा को मोहि समाना। बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला॥ देव दनुज नर सब बस मोरें। कवन हेतु उपजा भय तोरें॥'* (६। ८) (मन्दोदरीसे) इत्यादि सब *'बल बोलेसि बहु भाँति'* में आ गया। अ० रा० में सुन्दर वाक्यों तथा दानमानादिसे उसको धीरज देना लिखा है।

टिप्पणी—२ *'गएउ भवन अति सोच बस नीद...'* इति। समझाकर घर गया। अब उसे अत्यन्त चिन्ता

व्याप गयी है। अत्यन्त सोचका प्रमाण देते हैं कि *'नीद परै नहिं राति।'* कहाँ तो रात-दिन निश्चिन्त सोया करता था; यथा *'करसि पान सोवसि दिन राती'* और कहाँ अब दिनकी बात क्या रातमें भी सारी रात नींद न पड़ी। अति सोचके कारण ऐसा हुआ; यथा *'निसि न नींद नहिं भूख दिन भरत बिकल सुचि सोच॥'* (२। २५२) *'सो किमि सोव सोच अधिकाई॥'* (१। १७०)

खर्रा—अन्त:करणमें भय है, मुखसे बल बोलता है। शूर्पणखाके *'तोहि जियत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ'* इन वचनोंके कारण बल बखाना और समझाया और जो उसने कहा था कि *'छन महँ सकल कटक उन्ह मारा'* इससे सोच-विचारमें पड़ गया है। रावणने अपना शोच गुप्त रखा, इसका कारण आगे स्पष्ट करते हैं कि वह भगवान्‌के हाथसे मरना चाहता है।

(रावणके मनके विचार)

सुर नर असुर नाग खग माहीं । मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं॥ १॥
खरदूषन मोहि सम बलवंता । तिन्हहिं को मारइ बिनु भगवंता॥ २॥

अर्थ—देवता, मनुष्य, दैत्य, नाग और पक्षियोंमें मेरे सेवकोंकी बराबरी करनेवाला (जोड़का) कोई नहीं है॥ १॥ खरदूषण (तो) मेरे समान बलवान् थे। उन्हें सिवाय भगवान्‌के और कौन मार सकता है?॥ २॥

टिप्पणी १—*'सुर नर असुर नाग खग माहीं………'* इति। (क) यहाँ *'सुर नर'* का नाम दिया 'मुनि' को छोड़ दिया। क्योंकि मुनि किसीसे युद्ध नहीं करते। यहाँ रावण युद्धका प्रसंग कह रहा है, मुनियोंकी गिनती वीरोंमें नहीं है। शृङ्गार शोभाके प्रकरणमें 'मुनि' पद रखा जाता है, यथा—*'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं। नाग, असुर, सुर, नर मुनि जेते। देखे सुने हते हम केते॥'* (ख) शूर्पणखाने यही कहा कि *'छन महँ सकल कटक उन्ह मारा'* और यहाँ रावण भी वही सिद्धान्त करता है *'तिन्हहिं को मारइ………'* पूर्वापरसे मारना ही सिद्ध है। अत: *'मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं'* का भावार्थ है कि उनमेंसे कोई मेरे एक सेवकको भी मार नहीं सकता तो मेरे समान बली खरदूषणको कौन मार सकता है? मेरा तो एक-एक सेवक जगत्‌भरको जीत सकता है। यथा—*'कुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय। एक-एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय॥'* (१। १८०)

२ *'खरदूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहिं……'* इति। अर्थात् मेरे साधारण सेवकको तो कोई तीनों लोकोंमें छू भी नहीं सकता फिर भला खरदूषणको मारना यह तो असम्भव ही है। भगवान् ही मार सकते हैं दूसरा नहीं। 'भगवंत' पदका भाव कि जिसे तीनों लोकोंकी उत्पत्ति और प्रलयका सामर्थ्य है वह भगवान् ही हैं।

श्रीनंगे परमहंसजी—'यह मनके अनुमानसे भगवान्‌का अवतार सही किया। परन्तु उस मनके अनुमानको एक क्षणमें फिर विचार किया कि मनका अनुमान उत्तम नहीं माना गया है। इसलिये वह संदेहमें पड़ गया और उसने प्रत्यक्षमें निश्चय करना ठीक समझा, क्योंकि प्रत्यक्षका निश्चय उत्तम माना गया है। 'अत: नेत्रके सामने परीक्षा करके अवतार निश्चय करेंगे इसीसे संदेहका वचन कहा है।'

नोट—१ **'नहि मे विप्रियं कृत्वा शक्यं मघवता सुखम्। प्राप्तुं वैश्रवणेनापि न यमेन च विष्णुना॥ ५॥ कालस्य चाप्यहं कालो दहेयमपि पावकम्। मृत्युं मरणधर्मेण संयोजयितुमुत्सहे॥ ६॥ वातस्य तरसा वेगं निहन्तुमपि चोत्सहे। दहेयमपि संक्रुद्धस्तेजसादित्यपावकौ॥ ७॥'** (वाल्मी० ३। ३१) में यह जो रावणने अकंपनसे कहा है उसमें इन्द्र, कुबेर, यम, विष्णु, काल, अग्नि, मृत्यु, पवन और सूर्य इन तेजस्वी समर्थोंको गिनाया है। मानसका **'कोउ'** शब्द इस गणनासे अधिक व्यापक और रुचिकर है। पुन: वहाँ रावण सोचता है कि मेरा अप्रिय करनेको समर्थ कोई नहीं और यहाँ *'मोरे अनुचर कहँ……।'* पाठक स्वयं विचारकर देखें कि कौन अधिक अच्छा है, कौन वाणी अधिक बलवती है। *'मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं'* अर्थात् उनके सामने कोई खड़ा नहीं रह सकता; यथा—*'एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय।'* (१। ८०), तब मेरे सामनेकी तो बात ही क्या?

सुररंजन भंजन महिभारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥ ३॥
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभुसर प्रान तजे भव तरऊँ॥ ४॥
होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥ ५॥
जौं नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहौं नारि जीति रन दोऊ॥ ६॥

अर्थ—देवताओंको आनन्द देनेवाले, भू-भारका भंजन करनेवाले भगवान्‌ने यदि अवतार लिया है तो मैं जाकर हठपूर्वक वैर करूँगा। प्रभुके बाणोंसे प्राण छोड़नेपर भवपार हो जाऊँगा॥ ३-४॥ तामसी शरीरसे भजन न होगा (अतः) मन-कर्म-वचनसे पक्का मन्त्र यही है॥ ५॥ यदि मनुष्यरूप कोई राजपुत्र होंगे तो दोनोंको रणमें जीतकर स्त्रीको हर लूँगा॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'जौं भगवंत लीन्ह अवतारा'''* इति। *'जौं' 'तौं'* कहकर अवतारमें संदेह जनाया। (ख) *'बैरु हठि करऊँ'* का तात्पर्य कि ईश्वर तो किसीसे वैर नहीं करते, अतः मैं हठपूर्वक अपनी ओरसे वैर करूँगा। (ग) *'प्रभु सर प्रान तजे'''*, और *'हरिहौं नारि''''''* से स्वार्थ और परमार्थ दोनों सिद्ध देखे।—*'रघुबीर-सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।'* ईश्वरको जीतनेको नहीं कहता। मनुष्यको जीत लेनेमें निश्चय है—*'जीति रन दोऊ।'*

टिप्पणी—२ *'होइहि भजनु न तामस देहा।'''''''* यथा—*'तामस तन कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥'* (५। ७) भवपार होनेके दो उपाय हैं—प्रीति और विरोध। इनमेंसे 'विरोध' उपायको इसने निश्चय रख और प्रीतिका निराकरण किया।

पं० रा० गु० द्वि०— *'मंत्र दृढ़ एहा'* इति। रावणने मुख्य सिद्धान्त यही मनमें पक्का रखा। इसका प्रमाण यह है कि उसे १९ बार वैर छोड़कर राम-भजन करनेका उपदेश दिया गया तब भी उसने किसीकी नहीं सुनी, अपने मनकी ही की। अतः *'दृढ़'* पद दिया। वे १९ उपदेश ये हैं। मारीच और गृध्रराजका (ये दो उपदेश अरण्यकाण्डमें), श्रीजानकीजी, हनुमान्‌जी, मंदोदरी, विभीषण (३ बार,) माल्यवान्, लक्ष्मणजीका पत्रद्वारा और शुकका—(ये ९ उपदेश सुन्दरकाण्डमें), और मन्दोदरी (३ बार), प्रहस्त, अंगद, माल्यवान्, कालनेमि और कुम्भकर्णका—(ये ८ उपदेश लंकामें हुए)।

प० प० प्र०—*'मन क्रम बचन मंत्र दृढ़'* इति। (क) *'मंत्र'* शब्द देकर जनाया कि जो कुछ निश्चय किया गया है उसको गुप्त रखनेका भी निश्चय साथ-ही-साथ किया गया है। 'क्योंकि *'जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिय दुराऊ॥'*, '**षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः चतुष्कर्णो न भिद्यते। द्विकर्णस्य तु मन्त्रस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति॥३॥**' (ख) इस निश्चयको रावणने मन-क्रम-वचनसे अन्ततक गुप्त रखा। मनमें कभी विरोधके सिवा सामका विचार नहीं आने दिया। कर्म तो स्पष्ट है कि कोई भी कर्म ऐसा नहीं किया जिससे उसका निश्चय किसीको प्रकट हो जाय। विचार करते समय अवश्य उसके मुखसे *'भगवंता,' 'भगवंत'* और *'प्रभु'* शब्द निकले हैं, पर वैरका निश्चय कर चुकनेके पश्चात् उसने *'राम', 'रघुनाथ', 'प्रभु'* आदि शब्दोंका उच्चारण जीते-जी नहीं किया; तापस, भूपसुत आदि ही कहा है। इतना ही नहीं किंतु जबतक सिर शरीरमें रहा तबतक उसने युद्धमें आह्वान (ललकार) के लिये भी *'राम'* आदि शब्दोंका उच्चार नहीं किया। जब सिर धड़से अलग होकर आकाशमें उड़ते थे तभी वे *'राम'* शब्दका उच्चार करते थे, पर वह भी *'कहाँ राम रन हतौं पचारी'* इस वैर-भावसे ही। मानसके जोड़का रावण अन्यत्र मिलना असम्भव है। (हनुमन्नाटक और अध्यात्मके रावणोंने अपना विचार मन्दोदरी आदिसे प्रकट कर दिया है)।

टिप्पणी—३ *'जौं नररूप भूपसुत कोऊ।'''* इति। (क) अर्थात् ईश्वरके अतिरिक्त और जो कोई मनुष्यरूप भूपसुत होगा तो उसे जीत लूँगा। (ख) मेरी मृत्यु और किसीके हाथ नहीं, इन्होंने खरदूषणको मारा तो क्या हुआ? [*'नररूप कोऊ'* में भाव यह है कि ईश्वरके अतिरिक्त यदि कोई और देवता, दैत्य आदि नररूपसे आया है तो उसे भी मैं जीत लूँगा। क्योंकि देवादिमें तो कोई मेरी जोड़का है ही नहीं, तब

नररूपमें आनेसे उसमें अधिक बल कहाँसे आ सकता है और मनुष्य ही कोई है तब तो उसका जीतना क्या वह तो हमारा आहार ही है। (मा० सं०)]

प० प० प्र०—*'नररूप भूपसुत'* दो शब्दोंको आपाततः देखनेसे इसमें काव्यका शब्दगत दोष जान पड़ेगा पर ऐसा है नहीं। रावणने प्रथम तो यही निश्चय किया कि वे 'भगवंत' ही हैं, पर पीछे उसका चित्त द्विविधामें हो गया। उसे संशय हो गया कि भगवान् होंगे अथवा नहीं भी होंगे। इसीसे वह कहता है *'जौं नररूप'''* अर्थात् जो देखनेमें नररूप हैं वे यदि परमात्मा नहीं हुए, वरंच किसी राजाके पुत्र हुए तब क्या करना होगा? उत्तर तुरत मिल गया *'हरिहौं नारि',* पर चोरी करके नहीं किंतु *'जीति रन दोऊ।'*

मा० हं०—रावण विरोधी भक्त था ऐसी कहावत है। जो कुछ हो परन्तु हम निश्चयसे कह सकते हैं कि गोसाईंजीका रावण वैसा न था। श्रीरामजीसे बदला लेनेके निश्चयसे शूर्पणखा रावणतक पहुँची और उसे सीताहरणके लिये तैयार कर सकी। यदि रावण विषय-लोलुप न होता तो शूर्पणखाका यत्न अवश्य ही विफल होता। रावणकी दुर्भर विषयलालसाका यही पहला प्रमाण लिया जा सकता है। बादमें रावण विचार करने लगा कि यदि रामजी कोई मनुष्य होंगे तो सीता स्वयंको पच सकेगी, परंतु जो वे ईश्वर हों तो सीता-हरणसे निस्संदेह उसके प्राणोंपर बीतेगी। इस दूसरे विचारसे उसे एक तीसरा ही विचार बूझा—प्राणहानि भी अच्छी ही होगी, क्योंकि तामस देहसे ईशभक्ति कुछ भी बन नहीं सकती। इसलिये संसार पार होनेके लिये रामजीके ही हाथसे मरनेमें भला होगा। अब देखिये कि इस विचारमें भक्तिका नाम-निशानतक नहीं, केवल एक विषयवासनासे प्रेरित होकर रावण साधकबाधक दृष्टिसे परिणामकी ओर देखता जा रहा है। तामस देहसे ईश्वर-भजन न हो सका, इससे साफ प्रतीत होता है कि उसे उसके अनन्त घोर कृत्योंका स्मरण हुआ जिससे उसका हृदय दहल उठा। जिसे पश्चात्ताप कहते हैं सो यह नहीं है। यदि यह यथार्थ पश्चात्ताप होता तो इन्द्रियलौल्यकी जड़ कायम रखकर रावण सीताहरणके लिये प्रवृत्त ही न होता। इस विचारके लिये यह प्रमाण देखिये—*'सुररंजन भंजन महिभारा''' हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ',* अन्तकी चौपाईमेंके विचारको रावणका अन्तिम निश्चय समझना चाहिये। भक्तिका अथवा पश्चात्तापका ऐसा अश्लील पर्यवसान होना कभी भी संभव नहीं।—विशेष देखो २४ (८) में।

पं० रा० चं० शुक्ल—जिस प्रकार राम राम थे, उसी प्रकार रावण रावण था। वह भगवान्‌को उन ललकारनेवालोंमेंसे था जिसकी ललकारपर उन्हें आना पड़ा था। बालकाण्डमें गोस्वामीजीने पहले उसके उन अत्याचारोंका वर्णन करके जिनसे पीड़ित होकर दुनिया पनाह माँगती थी, तब रामका अवतार होना कहा है। वह उन राक्षसोंका सरदार था जो गाँव जलाते थे, खेती उजाड़ते थे, चौपाये नष्ट करते थे, ऋषियोंको यज्ञ आदि नहीं करने देते थे, किसीकी कोई अच्छी चीज देखते थे तो छीन लेते थे और जिनके खाये हुए लोगोंकी हड्डियोंसे दक्खिनका जंगल भरा पड़ा था। चंगेजखाँ और नादिरशाह तो मानो लोगोंको उसका कुछ अनुमान करानेके लिये आये थे। राम और रावणको चाहे अहुरमज्द और अह्रमान समझिये चाहे खुदा और शैतान। फर्क इतना ही समझिये कि शैतान और खुदाकी लड़ाईका मैदान इस दुनियासे जरा दूर पड़ता था और राम-रावणकी लड़ाईका मैदान यह दुनिया ही है।

ऐसे तामस आदर्शमें धर्मके लेशका अनुसन्धान निष्फल ही समझ पड़ेगा। पर हमारे यहाँकी पुरानी अक्लके अनुसार धर्मके कुछ आधार बिना कोई प्रताप और ऐश्वर्यके साथ एक क्षण नहीं टिक सकता, रावण तो इतने दिनोंतक पृथ्वीपर रहा। अतः उसमें धर्मका कोई-न-कोई अङ्ग अवश्य था। वह अङ्ग अवश्य था जिससे शक्ति और ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है। उसमें कष्ट-सहिष्णुता थी। वह बड़ा भारी तपस्वी था। उसकी धीरतामें कोई सन्देह नहीं। भाई, पुत्र जितने कुटुम्बी थे, सबके मारे जानेपर भी वह उसी उत्साहसे लड़ता रहा। अब रहे धर्मके सत्य आदि और अङ्ग जो किसी वर्गकी रक्षाके लिये आवश्यक होते हैं। उनका पालन राक्षसोंके बीच वह अवश्य करता रहा होगा। उसके बिना राक्षसकुल रह कैसे सकता था? पर धर्मका पूरा भाव लोकव्यापकत्वमें है। यों तो चोर और डाकू भी अपने दलके भीतर परस्परके व्यवहारमें

धर्म बनाये रखते हैं। लोक-धर्म वह है जिसके आचरणसे पहले तो किसीको दुःख न पहुँचे, यदि पहुँचे भी तो विरुद्ध आचरण करनेसे जितने लोगोंको पहुँचता है, उससे कम लोगोंको। सारांश यह कि रावणमें केवल अपने लिये और अपने दलके लिये शक्ति अर्जित करनेभरको धर्म था, समाजमें उस शक्तिका सदुपयोग करनेवाला धर्म नहीं था। रावण पण्डित था, राजनीति-कुशल था, धीर था, वीर था, पर सब गुणोंका उसने दुरुपयोग किया। उसके मरनेपर उसका तेज रामजीके मुखमें समा गया। सत्से निकलकर जो शक्ति असत्‌रूप हो गयी थी वह फिर सत्‌में विलीन हो गयी।

नोट—१ मानसके अ० का० में *'सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरें अनुचर कहँ कोउ नाहीं॥ खरदूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहिं को मारइ'* की जोड़में अ० रा० अरण्यकाण्ड सर्ग ५ में भी कुछ इसी प्रकारके विचार रावणके हैं। '**एकेन रामेण कथं मनुष्यमात्रेण नष्टः सबलः खरो मे। भ्राता कथं मे बलवीर्यदर्पयुतो विनष्टो बत राघवेण॥**' (५८) (अर्थात् मनुष्यमात्र एक रघुवंशी रामने बलवीर्यसाहससंपन्न मेरे भ्राता खरको सेनासहित कैसे मार डाला?) यह श्लोक है। *'सुररंजन भंजन महिभारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥'* की जोड़में '**यद्वा न रामो मनुजः परेशो मां हन्तुकामः सबलं बलौघैः। सम्प्रार्थितोऽयंद्रुहिणेन पूर्वं मनुष्यरूपोऽद्य रघोः कुलेऽभूत्॥**' (५९) (अर्थात् अथवा यह राम मनुष्य नहीं हैं, साक्षात् परमात्माने ही पूर्वकालमें की हुई ब्रह्माकी प्रार्थनासे मुझे मारनेके लिये मनुष्यरूपसे रघुवंशमें अवतार लिया है), *'तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥'* की जोड़में '**विरोधबुद्ध्यैव हरिं प्रयामि**·········' ६१ '**बध्यो यदि स्यां परमात्मनाहं वैकुण्ठराज्यं परिपालयेऽहम्**····' (६०) (अर्थात् मैं विरोधबुद्धिहीसे भगवान्‌के पास जाऊँगा। यदि परमात्माद्वारा मारा गया तो वैकुण्ठका राज्य भोगूँगा), *'होइहि भजनु न तामस देहा'* की जगह '**द्रुतं न भक्त्या भगवान्प्रसीदेत्।**' (६१) (अर्थात् भक्तिके द्वारा भगवान् शीघ्र प्रसन्न नहीं हो सकते), और *'जौं नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ॥'* की जोड़में '**नो चेदिदं राक्षसराज्यमेव भोक्ष्ये चिरं राममतो व्रजामि।**' (६०) (अर्थात् नहीं तो चिरकालपर्यन्त राक्षसोंका राज्य तो भोगूँगा ही। इसलिये मैं रामके पास अवश्य चलूँगा), ये श्लोक हैं।

चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। बस मारीच सिंधुतट जहवाँ॥७॥

अर्थ—(रावण) रथपर चढ़कर अकेला ही वहाँ को चला जहाँ समुद्रके किनारे मारीच रहता था॥ ७॥

नोट—१ मारीचके पास रावण कहाँ गया? यह बात महाभारत वनपर्व अ० २७६ श्लोक ५८, ५९ में मार्कण्डेय रामायणमें दी है कि रावण त्रिकूट और काल पर्वतोंको लाँघता हुआ गोकर्णक्षेत्रमें गया जहाँ उसका पुराना मन्त्री रामचन्द्रजीके भयसे तपस्वी वेषमें रहता था। *'तहवाँ जहवाँ'* से जनाया कि मारीच अब दूसरे देशमें रहता है। अ० रा० में इस चौपाईसे मिलता हुआ श्लोक यह है—'**ययौ मारीचसदनं परं पारमुदन्वतः।**···' (३। ६। २) अर्थात् समुद्रके दूसरे तटपर मारीचके घर गया। वाल्मीकीयमें लिखा है कि रावणने समुद्रके उस पार जाकर एक आश्रम देखा जहाँ कृष्णमृग चर्म तथा जटा धारण करनेवाला मारीच रहता था। यथा—'**तं तु गत्वा परं पारं समुद्रस्य नदीपतेः। ददर्शाश्रममेकान्ते पुण्ये रम्ये वनान्तरे।**' (३। ३५। ३७)।' '। इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि मारीचका आश्रम समुद्रके इस पार लङ्कासे बहुत दूरीपर था।

नोट—२ अकेला गया जिसमें किसीको खबर न हो, वैरीको कोई पता न दे दे, जिससे काममें अड़चन पड़ जाय। यह बात मानी हुई है कि जब किसी भेदको कोई दूसरा जान जाता है तो वह कभी-न-कभी अवश्य खुल जाता है।

प० प० प्र०—रावणके विचारोंका विश्लेषण करनेपर ज्ञात होता है कि उसने श्रीरामजीके साथ वैर करनेका निश्चय किया और वह भी पंचवटीमें जाकर सम्मुख करनेका। युद्धका परिणाम क्या होगा, इसमें उसके आगे दो ही परिणाम स्पष्ट हैं। राम भगवान् हुए तो उनके शरसे मरकर मुक्त हो जाऊँगा। और, यदि वे भूपसुत हुए (भगवान् न हुए) तो उनको मारकर उनकी स्त्रीको ले आऊँगा। तीसरा पर्याय उसके सामने कोई भी न था। तथापि रावण घरसे युद्धकी तैयारी करके नहीं निकला, अकेला ही रथ लेकर

निकला और पंचवटीमें न जाकर मारीचके आश्रममें गया तथा कपटसे श्रीसीताजीको हर ले जानेका निश्चय किया।—ऐसा क्यों हुआ? इस विचार-परिवर्तनमें श्रीराममायाकी प्रभुता ही प्रेरक है।

निश्चयके बदलानेमें कारण यह है कि यदि रावण पंचवटीमें युद्ध करता तो वह अकेला वहाँ मारा जाता। कुम्भकर्ण जानता था कि राम कौन हैं, अतः वह विरोध न करता। मेघनाद भी अपनी तरफसे वैर न बढ़ाता। तब तो असंख्यों दुष्ट राक्षस बने ही रह जाते और श्रीरामजीको *'निसिचरहीन करउँ महि'* इस प्रतिज्ञाका सत्य करना असम्भव हो जाता। अतएव जिस शक्तिको (दोहा ३३ में *'बिहसि कृपा-सुखबृंद'* ने) प्रेरणा दी है उसीने अपनी मायासे यह सूत्र संचालित किया है।

इसीसे तो मारीच भी जब मायामृग बनकर आता है तो अपने 'अंतर प्रेम' के विरुद्ध कई कार्य कर जाता है। श्रीरामजीके बाणोंसे मरनेके लिये उसे उनको न तो सुदूर ले जानेकी आवश्यकता थी और न उनके स्वरमें 'हा सीते! हा लक्ष्मण' पुकारनेकी। मायाने ही प्रभुकी निशाचर-कुल-नाशकी इच्छा जानकर उसकी भी बुद्धि ऐसी कर दी।

रावण यदि अपने निश्चयपर टिक जाता तो उसे न तो मारीचाश्रममें जानेकी आवश्यकता थी और न अकेले सारथी-विहीन चुपचाप जानेकी। वह स्पष्ट कहकर जा सकता था कि शूर्पणखाका बदला लेने, भूपसुतोंका शासन करने जाता हूँ।

रावणका निश्चय-परिवर्तन कब हुआ? रावणके शयनागारसे निकलकर बाहर आनेके बाद जब वह नित्य कर्ममें लगा होगा तथा जब युक्ति बनानेके पूर्व ही प्रभु बिहँसे थे तभी यह कार्य हो गया।

श्रीनंगे परमहंसजी—रावण मारीचके पास और अकेला क्यों आया? (उत्तर) रावण चोरी और परीक्षा आदिमें कुशल था। शूर्पणखाने कहा था *'पुरुषसिंघ बन खेलन आए।'* अतः उसने सोचा कि शिकार खेलने आये हैं तो हम मारीचको कपट मृग बना दें। बस, दोनों बातोंकी परीक्षा मिल जायगी। यदि अवतारी हुए तो जान जायँगे। यदि राजकुमार हुए तो उसके पीछे दौड़े जायँगे। किन्तु भगवान् देवकार्यके लिये मनुष्य बन गये, मृगके पीछे दौड़े। अकेला आया, क्योंकि प्राण देना है। प्राण देनेमें पलटनकी जरूरत नहीं होती।

'जिमि सब मरम दसानन जाना' यह प्रसंग समाप्त हुआ।

(श्रीसीताजीका अपना प्रतिबिंब आश्रममें रखना)

इहाँ राम जस जुगुति बनाई। सुनहु उमा सो कथा सुहाई॥ ८॥

दोहा—लछिमन गए बनहिं जब लेन मूल फल कंद।
जनकसुता सन बोले बिहसि कृपा सुखबृंद॥ २३॥

शब्दार्थ—*मूल* =पृथ्वीके भीतर जिनकी उत्पत्ति एक पेड़के ही अनेक मूलों (जड़ों) से होती है वे 'मूल' कहलाते हैं, जैसे आलू, रतालू इत्यादि। *कंद* =जो पृथ्वीके भीतर एक पौधेमें एक ही पैदा होता है, उसे कन्द कहते हैं—जैसे सूरन इत्यादि। **'अर्शोघ्नः सूरणः कन्दः।'** इत्यमरः (प० प० प्र०)

अर्थ—यहाँ श्रीरामचन्द्रजीने जैसी युक्ति बनायी, हे उमा! वह सुन्दर कथा सुनो॥ ८॥ जब लक्ष्मणजी कन्द-मूल-फल लेने वनको गये तब दया और आनन्दकी राशि श्रीरामजी हँसकर श्रीजानकीजीसे बोले॥ २३॥

नोट—१ पंचवटीका प्रसङ्ग *'पंचवटी बसि श्रीरघुनायक। करत चरित सुर-मुनि सुखदायक॥'* (२१। ४) इस चौपाईपर छोड़कर फिर शूर्पणखाका रावणके पास जाना इत्यादि प्रसङ्ग लङ्का और मारीचाश्रमतकके कहे। अब पुनः पञ्चवटीका प्रसङ्ग उठाते हैं। अतः 'इहाँ' पद दिया। पुनः, 'इहाँ' से जनाया कि जिस समय उधरका चरित लङ्का आदिमें हो रहा था उसी समय यहाँ यह चरित हुआ। एक साथ लिखे या कहे न जा सकते थे।

☞ स्मरण रहे कि गोस्वामीजीके *'इहाँ'* और *'उहाँ'* शब्दोंका प्रयोग बड़ा विलक्षण है। अयोध्याकाण्डमें इसकी उत्कृष्टता खूब देखनेमें आती है। *'इहाँ'* पद देकर कवि (वक्ता) अपनेको उस स्थानपर सूचित करते हैं और 'उहाँ' से जनाते हैं कि हम उनके साथ नहीं हैं जिनकी कथा हम लिख रहे हैं। कवि सदा अपनेको भगवान् और भागवतके साथ ही रखते हैं। और, जहाँ भागवत और भगवत् दोनोंका प्रकरण पड़ता है (जैसे भरतजी और रामजीका) वहाँ या तो दोनों जगह 'इहाँ' हीका प्रयोग किया है—'टीकाकार पण्डितोंने उनके भावको न समझकर 'इहाँ' का उहाँ कर दिया है)—या अपनेको परमभागवतके साथ दिखाकर—*'मोते अधिक संत करि लेखे'* को चरितार्थ किया है।

प० प० प्र०—*'जुगुति'* इति। जिस साधनसे थोड़े ही परिश्रममें बड़े कार्यकी सिद्धि हो जाय और धर्ममार्गका विरोध न करना पड़े उसे कर्मतत्त्वज्ञ 'युक्ति' कहते हैं। यथा—'**अल्पायासैरर्थसिद्धिर्धर्ममार्गोऽविरोधतः।' येन संसाध्यते युक्तिः सा प्रोक्ता कर्मकोविदैः॥**' यहाँ अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करना, पृथ्वीको निशाचरहीन करना साध्य है। बिना अपराधके रावणपर आक्रमण करना अधर्ममार्गावलम्बन होगा। रावण जब सीताजीको (अपनी तथा विश्वकी कल्पनानुसार) छलसे ले जायगा तब लङ्कापर आक्रमण करना इत्यादि सब कार्य अधर्ममार्गके बिना ही साध्य हो सकते हैं। इसलिये यही करानेका निश्चय किया। और सीताजीको रावणका स्पर्श होना भी अधर्म होगा; साथ ही यह भी सम्भव था कि सीताजी उसे अपने पातिव्रत्यतेजसे भस्म कर दें, इसलिये 'सीताजीका पावकमें निवास' और माया-सीताका हरण करानेका निश्चय किया।

टिप्पणी—१ *'इहाँ राम जस जुगुति बनाई।'''* इति। (क) *'राम'* अर्थात् ये सब चराचरमें रमण करते हैं, अतएव सब समयके सारे वृत्तान्त जानते हैं। रावणके भीतरका अभिप्राय और उसका मारीचको साथ लेकर आनेका विचार यह सब वे जान गये। इसीसे रावणके आगमनके पूर्व ही उन्होंने यह उपाय किया जो आगे वर्णित है। [अथवा जिस युक्तिसे अपनेको लीला करनेका और जिसके फलस्वरूप अपने चरित्रमें सज्जनों और मुनिगणोंको रमनेका सुअवसर मिलेगा तथा अपना खेल (क्रीड़ा) होगा, *'मम कौतुक होई'*, वह करने जा रहे हैं। अतः 'राम' नाम दिया। (प० प० प्र०)] (ख) *'जुगुति'* का भाव कि प्रभुको कपट नहीं भाता, यथा—*'मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥'* (५। ४४) रावणने कपट किया, मारीच कपटका मृग बना, अतः श्रीरामजीने उसके साथ कपट किया। '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**।' वह हमको कपट मृग देता है तो हम उसको मायाकी सीता देंगे। यह युक्ति बनायी। (खर्रा) (ग) *'उमा'* सम्बोधन देकर कथाका पता दिया कि यह कथा उमा-महेश्वर संवादमें है। उमा-महेश्वरसंवाद अध्यात्म रामायणमें भी है। अतः यह कथा वहाँ भी है। (दोहा २४। १) में भी देखिये। ['उमा' सम्बोधनमें यह भी भाव है कि सावधान हो जाओ, अब वह लीला होती है जिसे देखकर तुम्हें मोह हो गया था, यथा—*'खोजै सो कि अज्ञ इव नारी॥'* (१। ५१) देख लो वह सब विलाप और खोजना झूठा है कि नहीं? प्रभुने तो स्वयं ही मायाकी सीता बनवाकर उसका हरण कराया और स्वयं ही वियोगमें रोये। यह प्रसङ्ग वाल्मीकीयमें नहीं है, इसीसे अन्य किसी श्रोताको सम्बोधन न किया। (खर्रा) पुनः, *'उमा'* सम्बोधनका भाव कि तुमने जो कहा था कि *'जो प्रभु मैं पूछा नहि होई। सोउ दयालु राखहु जनि गोई॥'* अब हम वही कहते हैं। यह प्रभुका अति गोप्य चरित है; इसे सुनो। (पं०)] (घ) *'सुहाई'* का भाव कि बड़ोंके हृदयकी बात है (जो उन्हें भावे वह सुन्दर ही है। उन्हें कपटके बदले कपट भाया)। इस कथामें ईश्वरके हृदयकी अगाधता कहनी है, अतः उसे *'सुहाई'* कहा। (खर्रा, पं०) [जो सीताहरण विश्वको दुःखदायक होगा, उसीको शिवजी *'सुहाई'* कह रहे हैं भाव यह है कि इस युक्तिका फल बड़ा मधुर होगा। निशाचरोंका नाश होगा, धर्मका संस्थापन होगा और भविष्यमें भगवज्जनोंको भवसागरतरणके सुलभ साधन 'श्रीरामचरित' का निर्माण होगा। फलके अनुसार ही सुन्दरता वा असुन्दरताका निश्चय किया जाता है। जो आरम्भमें दुःखदायक, पर जिसका परिणाम सुखदायक हो वही सुन्दर कहे जाने योग्य है और जो आरम्भमें सुखदायक, पर अन्तमें दुःखदायी हो वह सुन्दर नहीं है (प० प० प्र०)]

प० प० प्र०—१ (क) *'जनकसुता सन बोले'* इति। जनकसुता (पितासम्बन्धी) नाम देकर जनाया कि आजसे दोनोंका प्रत्यक्ष सम्बन्ध छूट जायगा। (ख) बिहँसना और मुसुकाना इन दो क्रियाओंके परिणाम विभिन्न हैं। जब सम्बन्धी व्यक्तियोंमें उदित ऐश्वर्य भावको दबाकर वात्सल्यादि माधुर्य भावोंको जाग्रत् और क्रियाशील करना होता है तब 'मुसकराते' हैं। यथा—*'उपजा जब ग्याना प्रभु मुसकाना।'* परिणाम यह हुआ कि *'माता पुनि बोली सो मति डोली।'* (१। १९२) पुनः यथा—*'मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी',* परिणाम यह हुआ कि विश्वामित्रजी तत्काल ही रामरूपका मर्म कहना छोड़कर कहने लगे कि *'रघुकुलमनि दसरथ के जाए।'* और, जब किसीको, चाहे वह निकट हो अथवा अत्यन्त दूर हो, अपनी मायासे मोहित करना होता है तब वे 'विहँसते' हैं। यह 'विहास' और 'मुसकान' में भेद है।

टिप्पणी—२ (क) *'बिहँसि'* का भाव कि अब निशाचरोंके नाशकी पूरी युक्ति बनी। वा, रावणको ठगनेके लिये स्वयं माया करना चाहते हैं, अतः हँसे। हास प्रभुकी माया है ही। अथवा, [*'बिहँसि'* का भाव कि रावणके वधके लिये स्त्रीको लङ्का भेजनेमें यद्यपि हँसी है तो भी परोपकारहेतु हम-तुम हँसी सहें। वा, लङ्कामें भेजना है,अतः हँसकर उनको प्रसन्न कर रहे हैं। वा, हँसकर जनाया कि यह कष्ट और लीला हमारे लिये हँसीखेल है, इसीसे *'सुखबृंद'* पद दिया। (पं०) अथवा भाव कि देखो तुम कहती थीं कि राक्षसोंका बिना अपराध नाश करना उचित नहीं, देखो वह तुम्हींको हरने आ रहा है। अब तो अपराध होगा। वाल्मीकीयमें सीताजीने राक्षसनाशकी प्रतिज्ञाके समय ऐसा कहा था।] (ख) कृपासुखवृन्दका भाव कि कृपा और सुखकी राशि हैं, इसीसे सबपर कृपा करके सबके सुखके लिये यह लीला करना चाहते हैं।

प० प० प्र०—इस दोहेमें कवि 'कन्द' और 'बृन्द' विषम यमक देकर जनाते हैं कि अब भगवत्प्रेरित विषममाया किसीको वशमें करेगी। यथा—*'तव विषम माया बस'',* *'श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी॥'* इत्यादि।

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला॥ १॥

तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौं लगि करौं निसाचर नासा॥ २॥

अर्थ—हे प्रिये! हे सुन्दर पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली और सुशीले! सुनो। मैं कुछ 'ललित' नरलीला (नरनाट्य) करूँगा॥ १॥ जबतक मैं निशाचरोंका नाश करूँ तबतक तुम अग्निमें निवास करो॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला'* इति। श्रीसीताजी इन्हींकी नहीं किंतु समस्त गुणोंकी खानि हैं, इन्हीं गुणोंका स्मरणकर और मुखसे कह-कहकर प्रभुने श्रीसीताहरणपर विलाप किया है, यथा—*'हा गुनखानि जानकी सीता। रूप सील ब्रत नेम पुनीता॥'* इत्यादि। (ख) यहाँ सब विशेषण साभिप्राय हैं। अब रावणके वधका समय आ गया। श्रीसीता-हरणद्वारा ही उसकी मृत्यु होगी, क्योंकि *'बिनु अपराध प्रभु हतहिं न काऊ॥ जौ अपराध भक्त कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥'* इसको चरितार्थ करनेके लिये श्रीसीताजीको रावणवधतकके लिये अलग करेंगे। अतः कहते हैं *'प्रिया, ब्रत, रुचिर, सुसीला'* अर्थात् मैं तुमको अपनेसे पृथक् करता हूँ, इससे यह न जानना कि तुम मुझे अप्रिय हो। तुम तो हमारी सर्वदा प्रिया हो। कार्यके निमित्त ऐसा कहता हूँ। जो वे कहें कि ऐसा करनेसे हम दूषित हो जायँगी, तो उसपर कहते हैं कि नहीं तुम तो *'ब्रत रुचिर'* हो। खलके यहाँ रहनेसे शीलका नाश होता है, उसपर कहते हैं कि तुम 'सुशीला' हो, तुम्हारे शीलका नाश नहीं हो सकता। अथवा, तुम हमारी प्रिया हो, व्रत-रुचिर हो, सुशीला हो, तुम हमारे वचनोंका पालन करो। *'ब्रत रुचिर'* कौन व्रत है? उत्तर—*'एकै धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥'*

टिप्पणी—२ *'मैं कछु करबि ललित नर लीला'*—ललित अर्थात् जिसमें ऐश्वर्यकी छटामात्र भी नहीं, किञ्चित् ऐश्वर्यका मेल जिसमें नहीं है।

दीनजी—*'ललित नर लीला'*, इसमें भी साहित्यिक मर्म है। ललित अलङ्कारमें जो कुछ कहा जाता है वह स्पष्ट शब्दोंमें न कहकर उसके प्रतिबिम्ब भावमें कहा जाता है। जैसे अयोध्याकाण्डमें ***'लिखत सुधाकर लिख गा राहू'***- राज न हुआ, वनवास हुआ। इस घटनाको दूसरी घटना करके वर्णन किया। भाव कि जैसे 'ललित अलङ्कार' में वर्णित होता है उसी प्रकार यहाँसे आगेतककी हमारी सब लीला ललित अलङ्कारमें समझनी चाहिये। इसी अभिप्रायसे आगे 'प्रतिबिंब' शब्द दिया है जो ललित अलङ्कारका वाचक है, यथा-*'ललित अलंकृत जानिये कह्यो चाहिये जौन। ताहीके प्रतिबिंब ही वर्णन कीजै तौन॥'*

टिप्पणी—३ *'तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा'* इति। (क) अग्निमें निवास करनेको कहते हैं क्योंकि अन्तमें इसीकी साक्षी देकर इसीमेंसे इनको प्रकट कराना होगा यथा-*'सीता प्रथम अनल महुँ राखी। प्रगट कीन्ह चह अंतरसाखी॥'* (६। १०७) अग्निकी साक्षी देनेकी रीति है, यथा—*'पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ॥'* (४। ४) (ख) पुनः भाव कि तुम भी ऐश्वर्य न रखो, कहीं उसके दुःख देनेपर शाप न दे दो कि वह भस्म हो जाय जो हमारी प्रतिज्ञा ही जाय। (खर्रा)

नोट—१ *'तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा'* इति। पावकमें निवास करनेका भाव श्रीकरुणासिंधुजी यह लिखते हैं कि 'पावकमें निवास करके अन्तर्भूत हमारे पास रहो।' श्रीसीताजी श्रीरामजीसे पृथक् कभी नहीं रहतीं, उनका नित्य संयोग है, वियोग कभी नहीं होता, यह बात सती-मोह-प्रकरणसे भलीभाँति प्रमाणित होती है। अग्निमें निवासका भाव भी यह सिद्ध करता है। अग्नि ब्रह्मका एक रूप है जैसा कि श्रुति कहती है—**'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।'** अर्थात् सत् एक है, इसे ब्राह्मण भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारते हैं। कोई अग्नि कहता है, कोई यम कहता है और कोई पवन कहता है। मनुने भी अ० १२ में कहा है—**'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥'** अग्निके इस अर्थसे बैजनाथजीका 'रामवल्लभा' का यह भाव सिद्ध होता है कि उनका वियोग सरकार क्षणमात्रको भी सह नहीं सकते।

श्रीपंजाबीजीका मत है कि श्रीरघुनाथजीने विचारा कि सब देवता रावणसे भयभीत हैं, हमें हनुमान्‌द्वारा लङ्का-दहन कराना है, कहीं ऐसा न हो कि अग्नि उसे न जलावे, अतः 'उसके बीच अपनी शक्ति रख दी' जिसमें वह निर्भय होकर लङ्काको जला सके।

बालकाण्डके मङ्गलाचरणमें जो श्रीसीताजीका मङ्गलाचरण है **'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीम्'**, उसमेंकी संहारकारिणी शक्तिका यहाँ उल्लेख गुप्त रीतिसे किया गया है। श्रीसीताजी तो पावकमें समा गयीं, अब यहाँ उनका 'प्रतिबिंब' है। यह उनकी संहारिणी शक्ति ही है जो कपटरूपसे यहाँ विराजमान है। ऐसा क्यों किया? इसका कारण यह है कि सरकार निशिचर नाशकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं और बिना संहारिणीशक्तिके काम नहीं चल सकता। यह शक्ति रावणके साथ लङ्कामें जाकर राक्षस-कुलका संहार करेगी। वे रामवल्लभा हैं, जो कुछ श्रीरामजीको प्रिय है वही वे करती हैं, उनकी राक्षस-संहारकी इच्छा देखकर वे अपनी संहारिणीशक्ति प्रकटकर रावणके नाशके लिये भेजती हैं। यही मन्दोदरी और विभीषणजीका मत है जो उन्होंने रावणसे प्रकट किया था। यथा-*'तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीतनिसा सम आई॥'*, *'कालराति निसिचरकुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥'* और वाल्मीकीय सुन्दरकाण्डमें हनुमान्‌जीने भी ऐसा ही कहा है— **'यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते गृहे। कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलङ्काविनाशिनीम्॥'** (५। ३४) अर्थात् जो तुम्हारे घरमें उपस्थित हैं, जिन्हें तुम सीता समझते हो, उन्हें कालरात्रि समझो, वे सर्व लङ्कानाशिनी हैं। जो शक्ति महाकाली, महालक्ष्मी आदि रूपसे असुरनाशिनी है वही शक्ति यहाँ सीता प्रतिबिम्बरूपमें असुरसंहारिणी कालरात्रि है।

नोट—२ पावकमें निवास करनेके और भाव ये कहे जाते हैं—(क) श्रीरामजी अग्निको अपना पिता मानते हैं, क्योंकि अग्निके दिये हुए पिण्डसे इनका जन्म हुआ, और स्त्री अपने पिता अथवा पतिके घर शुद्ध रहती है। (पाँ०) (ख) और किसी तत्त्वमें रखनेसे इनका तेज न छिपता। (पं०) (ग) अग्नि सीताजीका

पिता है इस तरह कि रावणने जब ऋषियोंसे कर माँगा तब उन्होंने अपना रुधिर एक घटमें देकर भेजा कि इसके द्वारा तेरी मृत्यु होगी। ऋषियोंका कोप ही अग्नि है। उससे श्रीसीताजीकी उत्पत्ति हुई। (पं०) (घ) श्रीरामजी तपस्वी रहें तब सीताजी भोगस्थानमें रहना कब स्वीकार कर सकती हैं, यथा—'*तुम्हहिं उचित तप मो कहुँ भोगू।*' (२। ६७) अतः, पहलेसे उनके अनुकूल तपस्थान अग्निमें निवास करनेको कहा जिसमें साथका हठ न करें।

नोट—३ अ० रा० में मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**उवाच सीतामेकान्ते शृणु जानकि मे वचः॥**'……**अग्नावदृश्यरूपेण वर्षं तिष्ठ ममाज्ञया। रावणस्य वधान्ते मां पूर्ववत्प्राप्स्यसे शुभे॥**' (३। ७। १—३) अर्थात् श्रीरामजीने रावणका सारा षड्यन्त्र जानकर एकान्तमें श्रीजानकीजीसे कहा—'हे सीते! मेरा वचन सुनो।…मेरी आज्ञासे तुम अग्निमें प्रवेश कर वहीं अदृश्यरूपसे एक वर्ष रहो। रावणका वध हो जानेपर तुम मुझे पूर्ववत् पा लोगी'।

जबहिं राम सब कहा बखानी। प्रभु पद धरि हिय अनल समानी॥ ३॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥ ४॥
लछिमनहूँ यह मरमु न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना॥ ५॥

अर्थ—जैसे ही श्रीरामजीने सब बखानकर कहा वैसे ही प्रभुके चरणोंको हृदयमें धरकर वे अग्निमें समा गयीं॥ ३॥ श्रीसीताजीने अपना प्रतिबिंब वहाँ रखा जिसमें वैसा ही शील, सुन्दरता और अत्यन्त विनम्रता थी॥ ४॥ भगवान्‌ने जो कुछ लीला रची उस भेदको लक्ष्मणजीने भी न जाना॥ ५॥

टिप्पणी—१ '*जबहिं राम सब कहा बखानी। प्रभु पद*……' इति। (क) पूर्व '*ब्रत रुचिर*' कहा, उसीको यहाँ चरितार्थ किया। व्रत रुचिर है। '*काय बचन मन पतिपद प्रेमा*' यही पातिव्रत्यकी रुचिरता है। इनका पतिपदमें ऐसा ही प्रेम है, अतः '*पति पद धरि हिय*' कहा। पतिपद हृदयमें धरना धर्म है। पुनः, इन चरणोंसे गङ्गा निकली हैं—'*नख निर्गता सुरबंदिता त्रैलोक्यपावन सुरसरी*', अतएव इनके धारण करनेसे अग्निमें शीतलता बनी रहेगी। (खर्रा)

नोट—१ '*निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता*' इति। (वाल्मी० ३। ४५। ३७) में सीताजीने लक्ष्मणजीके सामने प्रतिज्ञा की हैं कि मैं तीक्ष्ण विष पी लूँगी, अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगी, पर श्रीराघवके अतिरिक्त किसी अन्य पुरुषका स्पर्श न करूँगी। यथा—'**पिबामि वा विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्। न त्वहं राघवादन्यं कदापि पुरुषं स्पृशे॥**' इस वचनके आधारपर रामाभिरामीय टीकाकार कूर्मपुराणका अवतरण '**जगाम शरणं वह्निमावसथ्यं शुचिस्मिता।**……' देकर कहते हैं कि वाल्मीकीयमें भी असली सीता अग्निमें समा गयीं, रावण माया-सीताको हर ले गया, नहीं तो सीताजीकी उपर्युक्त प्रतिज्ञा ही असत्य हो जायगी।

अ० रा० में भगवान्‌ने सीताजीसे कहा है कि रावण भिक्षुकरूप धरकर आवेगा, अतः तुम अपने ही समान आकृतिवाली अपनी छायाको कुटीमें छोड़कर अग्निमें प्रवेश कर जाओ। यथा—'**रावणो भिक्षुरूपेण आगमिष्यति तेऽन्तिकम्। त्वं तु छायां त्वदाकारां स्थापयित्वोटजे विश॥**' (३। ७। २)

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि यहाँ 'प्रतिबिंब' का अर्थ 'प्रतिकृति' या 'प्रतिमान' है। 'छाया सीता' शब्दका प्रयोग मानसमें नहीं मिलता है। हाँ, 'माया सीता' मिलता है—'*पुनि मायासीता कर हरना।*' इसी प्रकार 'प्रतिबिंब'= मायासे निर्मित सम्पूर्ण लक्षणोंवाली सीताजीकी प्रतिमूर्ति। इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग मानसमें हुआ भी है। यथा—'*हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर।*' (७। २५। ७) (लव और कुश दोनों भाई भगवान्‌की मानो दो प्रतिमूर्ति ही हैं)। अमरकोशमें भी यह अर्थ है। यथा—'**प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना। प्रतिच्छाया प्रतिकृतिरर्चापुंसि प्रतिनिधिः॥**'

बैजनाथजीका मत है कि ऋषिकन्या वेदवतीने प्रभुकी प्राप्तिके लिये तप किया। उसको देखकर रावणने उसे जबरदस्ती पकड़कर लङ्काको ले जाना चाहा। तब उसने शाप दिया कि तेरा नाश मेरे ही द्वारा होगा। यह कहकर उसने अपना वह शरीर छोड़ दिया। वही यहाँ श्रीसीताजीका प्रतिबिंब है, उसीमें श्रीसीताजीका

आवेश हुआ। इसी कारण श्रीसीताजीको अग्निमें निवास करनेको कहा गया। एक वेदवतीकी कथा वाल्मीकीय उत्तरकाण्डमें है पर वह वेदवती अयोनिजा सीता हुई है न कि सीताका प्रतिबिम्ब।

एक दूसरी वेदवतीकी कथा स्कन्दपुराण वैष्णवखण्डके भूमिवाराह खण्डमें है। वेङ्कटाचलनिवासी वीरपति भगवान्‌ने वकुलमालिका सखीसे वहाँ कहा है कि 'जब रावण सीताको हर ले जानेके लिये मेरे आश्रमके समीप आया उस समय मेरे अग्निहोत्रगृहमें विद्यमान अग्निदेव, रावणकी ऐसी चेष्टा जानकर, सीताको साथ ले पातालमें चले गये और अपनी पत्नी स्वाहाकी देख-रेखमें उन्हें रखकर लौट आये।

पूर्वकालमें कल्याणमयी वेदवतीको एक बार रावणने स्पर्श कर लिया था जिससे दु:खित होकर उन्होंने प्रज्वलित अग्निमें अपने शरीरको त्याग दिया। उसी वेदवतीको रावणका संहार करनेके उद्देश्यसे अग्निदेवने सीताके समान रूपवाली बना दिया और मेरी पर्णशालामें सीताके स्थानपर उसे लाकर रख दिया। रावण उसीको अपहरण करके लङ्कामें ले आया। रावणवध हो जानेपर अग्निपरीक्षाके समय वेदवतीने अग्निमें प्रवेश किया और असली सीताको लाकर अग्निदेवने देकर वेदवतीको मुझसे वरदान दिलाया। मैंने उसे वरदान दिया कि कलियुगमें यह आकाश राजाकी अयोनिजा कन्या होगी तब मैं इसे अङ्गीकार करूँगा, तबतक यह ब्रह्मलोकमें निवास करे।

मानसकी 'सीता' स्वयं अपना प्रतिबिम्ब अपने स्थानपर छोड़ती हैं और अग्निमें निवास करती हैं। मानसके राम रावणका निश्चय जानकर स्वयं यह लीला रचनेको, युक्ति बनानेको सीताजीसे कहते हैं और पति-रुख लखकर वे वैसा करती हैं। इससे मानसकी यह कथा वाल्मीकीय और स्कन्दवाले कल्पोंसे भिन्न कल्पकी जान पड़ती है और साहित्यज्ञ लोग ऐसा कहेंगे कि मानसके इस प्रसङ्गका मूल आधार स्कन्दपुराण है।

रा० प्र० कार लिखते हैं कि प्रतिबिम्ब अव्यवहित देशमें रहता है, व्यवहित (पृथक् किये हुए) देशमें उसका रहना असम्भव है। और समाधान यह करते हैं कि इससे ईश्वरता दिखायी है। असम्भवको सम्भव कर देना ईश्वरता है।

प० प० प्र०—श्रीसीताजीके और वेदवतीके अग्निप्रवेशसे यह सिद्ध होता है कि मानवी देहका रूपान्तर पाँच भूतोंमेंसे किसी भी एक भूतमें हो सकता है। श्रीतुकाराम महाराज शरीरको वायुरूप बनाकर सदेह वैकुण्ठको गये। श्रीरामानुजाचार्यजी अपनी देहको अग्निरूप बनाकर सदेह गये। श्रीनिवृत्तिनाथजीने अपनी कायाको कुशावर्त्तमें जलरूप बना दिया।

टिप्पणी—२ *'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता'* इति। श्रीरामचन्द्रजीने स्पष्ट न कहा कि प्रतिबिम्ब यहाँ रख दो। पर उन्होंने पतिरुख देख ऐसा किया। *'पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू'* (१। ३३४) माताओंकी इस शिक्षाको यहाँ चरितार्थ किया। स्त्रीमें चार गुण विशेष हैं—शील, स्वरूप, विनीत और व्रत रुचिर। इसीसे इन चारोंको यहाँ कहा।

टिप्पणी—३ (क) *'लछिमन गए बनहिं जब लेन मूल फल कंद'* इतनी ही देरमें यह सब चरित रचा गया। जब वे आ गये तब वक्ता कहते हैं कि *'लछिमनहूँ यह मरमु न जाना'* क्यों न जाना? इसका कारण प्रथम ही कह दिया कि *'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥'* (ख) यहाँ सूक्ष्मरीतिसे प्रकरणकी समाप्ति दिखायी। लक्ष्मणजी प्रात:काल स्नान, संध्या, पूजन करके वनको गये। रावण प्रात:काल उठकर मारीचके यहाँ गया, वहाँसे मारीचको लेकर मध्याह्नमें सीता-हरण करने गया, अतएव मध्याह्नके पूर्व ही सीताजीका अग्निमें स्थापन हुआ। *'लछिमन गए बनहिं'* उपक्रम है और *'लछिमनहूँ यह मरमु न जाना'* उपसंहार है। (ग) लक्ष्मणजीको यह लीला न जनायी, क्योंकि उनके जान लेनेसे विरहकी लीला न करते बनती। प्रभुने महारानीजीसे कहा है कि *'मैं कछु करबि ललित नर लीला।'* यदि लक्ष्मणजीको जना देते तो लीलाका वह लालित्य जाता रहता। इसीसे वहाँ *'ललित'* पद दिया। अथवा नारद शापवाले अवतारमें नारदवचन सत्य करना है कि *'नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी।'* ये जान लेंगे तो नारदवाक्य सत्य न हो पायेंगे। (खर्रा) *'लछिमनहूँ'* का भाव कि ये ईश्वरकोटिमें रामरूप हैं, जब इन्होंने ही न जाना तो

अपर देवादि किस गिनतीमें हैं। (प्र०) जिस चरितको भगवान् गुप्त रखना चाहें उसे कौन जान सकता है? कोई भी नहीं। यथा—*'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई।'* (१। १२८) *'होइहि सोइ जो राम रचि राखा।'* (१। ५२। ७) *'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'* (२। १२७) रावणका निश्चय तो किसीने जाना नहीं, तब श्रीरामजीका रहस्य कौन जान सकता है जबतक उनकी स्वयं इच्छा न हो?

टिप्पणी—४ *'जो कछु चरित रचा भगवाना'* इति। (क) भगवान् वह है जो विद्या और अविद्याको जाने, यहाँ मायाकी सीता बनीं, इसको आप ही जानते हैं। (ख) भगवान्‌ने यह चरित लक्ष्मणजीसे गुप्त रखा, अतः गोस्वामीजीने भी अक्षरोंमें ही गुप्त कहा। अर्थात् यह न कहकर कि 'जो यह चरित रचा', यह कहा कि *'जो कछु चरित रचा।'* 'कछु क्या? यह गुप्त रखा है, स्पष्टवाचक शब्द यहाँ नहीं दिया। धन्य गुसाईंजी!!'

नोट—२ बालकाण्ड कैलासप्रकरणमें दिखाया जा चुका है कि श्रीपार्वतीजीके दो प्रश्न ये भी हैं—*'औरौ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥'* और *'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयालु राखहु जनि गोई॥'* उन प्रश्नोंका उत्तर यहाँ (इस काण्डमें) भी तीन स्थलोंपर दिया गया है—(१) *'मुनिसमूह महँ बैठे सनमुख सबकी ओर'*; (२) *'मायानाथ अस कौतुक कर्‌यो। देखहिं परस्पर राम'*; (३) *'लछिमनहूँ यह मरमु न जाना।'* ये सब गुप्त रहस्य हैं। पहला और दूसरा प्रथम प्रश्नका उत्तर है और तीसरा दूसरे प्रश्नका।

रा० प्र० श०—*'उमा'* आदि सम्बोधन दो ही स्थानोंमें हैं, या तो उनके गुप्त प्रश्नोंपर या *'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई'* इस प्रश्नके उत्तरमें। जैसे—*'औरउ एक कहौं निज चोरी। सुनु गिरिजा.........'* *'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ'*, *'छन महँ सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना॥'*—ये सब इस प्रश्नके उत्तर हैं। और *'उमा जे रामचरन रत गत ममता मद क्रोध'* यह गुप्त प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है! ☞[यह तो रघुनाथजीके रहस्यकी बात हुई। परन्तु जहाँ श्रीजानकीजीकी महिमा कही है वहाँ केवल रघुनाथजीका ही जानना लिखा है। वह भी ग्रन्थभरमें केवल दो ही स्थानोंमें—एक तो बालकाण्डमें, यथा—*'जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई॥......।'* (३०६) *'.....सिय महिमा रघुनायक जाना।'* दूसरे अयोध्याकाण्डमें; यथा—*'सीय सासु प्रति बेष बनाई।'.....लखा न मरमु राम बिनु काहू।'* (२। २५२) ये सब भी *'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई'* का ही उत्तर है। ☞इसी तरह श्रीजानकीजी ही श्रीरामजीके मनको जानती हैं। यथा—*'पिय हियकी सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥'* (२। १०२) *'अनुज सेवक सचिव हैं सब सुमति साधु सखाउ। जान कोउ न जानकी बिनु अगम अलख लखाउ॥ राम जोगवत सीय मनु प्रिय मनहि प्रानप्रियाउ।'* (गी० ७। २५) इसका कारण यह है कि श्रीसीताजी और श्रीरामजी एक ही हैं, देखनेमात्रको दो हैं। और कोई इनके गोप्य चरित्रोंको बिना इनके जनाये नहीं जान सकता।—*'सो जानइ जेहि देहु जनाई।'*]

दसकंधर-मारीच-बतकही-प्रकरण

दसमुख गयउ जहाँ मारीचा। नाइ माथ स्वारथरत नीचा॥ ६॥
नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई॥ ७॥
भय दायक खल कै प्रिय बानी। जिमि अकालके कुसुम भवानी॥ ८॥

अर्थ—दशमुख (रावण) वहाँ गया जहाँ मारीच था और उसे माथा नवाया (क्योंकि) स्वार्थपरायण (स्वार्थ ही जिसको प्रिय है) और नीच है॥ ६॥ नीचका नवना (दीनता, नम्रता) अत्यन्त दुःखदायी होता है जैसे अङ्कुश, धनुष, सर्प और बिल्लीका झुकना॥ ७॥ हे भवानी! दुष्टकी प्रिय वाणी भी भय देनेवाली होती है जैसे बिना समय (ऋतु) के फूल (भयदायक होते हैं)॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। बस मारीच सिंधुतट जहवाँ॥'* उपक्रम है और *'दसमुख गयउ जहाँ मारीचा'* उपसंहार है। (ख) *'दसमुख'* का भाव कि इसके सामने एक मुखवाले

मारीचकी कुछ न चलेगी। [इस प्रसङ्गमें *'जाइ सूपनखा रावन प्रेरा।'* (२७। ५) से लेकर *'हारे परा खल बहु बिधि……।'* (२९) तक रावण नाम दो ही बार प्रयुक्त हुआ है। एक २७। ५ में, दूसरे *'क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ'* दोहा २८ में और 'दसमुख' 'दसानन', 'दसकंधर' वा 'दससीस' ये समानार्थक शब्द दस बार आये हैं। इन शब्दोंके प्रयोगका कारण यह है कि रावणके शरीरके आकारादिकी कल्पना चित्त-चक्षुके सामने जितनी स्पष्ट इन शब्दोंसे खड़ी हो जाती है उतनी रावण, निशाचरपति आदि अन्य शब्दोंसे नहीं होगी। (प० प० प्र०) पुनः*'दसमुख'* का भाव कि वह ऐसे अभिमानसे कह रहा है मानो दसों मुखोंसे कह रहा है।] (ग) *'नाइ माथ स्वारथरत नीचा'* अर्थात् भक्तिसे मस्तक नहीं नवाया, स्वार्थवश प्रणाम किया, क्योंकि नीच है, नीचलोग स्वार्थ-साधनार्थ ऐसा करते हैं। इसीकी व्याख्या आगे कवि स्वयं करते हैं। यदि भक्तिसे प्रणाम करता तो आगे फिर मारनेको न तैयार होता। (घ) राजा, गुरु, देवता, साधु, ब्राह्मणको मस्तक नवाये—यह धर्म है। अन्यको मस्तक नवाना उचित नहीं है। जिस रावणके सम्बन्धमें कहा है कि *'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता॥'* (१। १८२) वह दूसरेको जो अपने अधीन हैं माथा नवावे, यह नीचता है। [वाल्मी० ३। ४० में रावणने स्पष्ट कहा है कि 'मैं राजा हूँ। राजा अग्नि, इन्द्र, चन्द्रमा, यम और वरुणका रूप है। उसका सब स्थानोंमें सम्मान करना चाहिये पर तुम मन्त्रीका धर्म भूलकर बिना मेरे तुमसे मन्त्र पूछे तुमने कठोर वचन कहे। राजा होकर उसने मन्त्री और अपनी प्रजाको प्रणाम किया अतः 'नीच' कहा। स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि रावण एकमात्र अपने स्वार्थके कारण राक्षसकुलका नाश करायेगा, अतः उसे नीच कहा। यथा—*'स्वारथरत परिवार बिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी॥'* (७। ४०) *'आपु गए अरु तिन्हहू घालहिं। जे कछु सतमारग प्रतिपालहिं॥'* जो स्वार्थरत होते हैं वे चाहे कितने ही ऊँचे क्यों न हों पर नीच कर्म करनेमें किञ्चित् भी नहीं हिचकते। स्वर्गस्थ इन्द्रादिकी भी यही दशा है। यथा—*'आए देव सदा स्वारथी', 'ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥'* (रावण स्वार्थवश मारीचका नाश कराने जा रहा है। अतः उसे 'नीच' कहा।)]

टिप्पणी—२ *'नवनि नीच कै अति दुखदाई।……'* इति (क) नमित होनेमें अङ्कुशादिकी उपमा दी और मधुर बोलनेमें कुसुमकी उपमा दी। दो बार उपमा देकर जनाया कि मधुर वचन कहकर प्रणाम किया है। अतः दोनोंकी उपमा दी। खल स्वार्थहेतु प्रिय वचन बोलते हैं; यथा—*'बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाहिं महाअहि हृदय कठोरा॥'* प्रियवाणीकी उपमा प्रायः फूलकी दी जाती है, यथा—*'बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला॥'* (१। २८०) *'मातु बचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुरतरु के फूला॥'* (२। ५२) पर खलकी वाणी प्रिय होनेपर भी भयदायक है, यह जनानेके लिये *'अकालके कुसुम'* की उपमा दी। बिना समयके ऋतुके पहले या पीछे, फूल निकलना अपशकुन-सूचक है, राजा और प्रजाको भय उपजानेवाला है। (ख) अङ्कुश नया और हाथीके मस्तकपर धँसा धनुष विशेष नया (जैसा खींचकर बाण चढ़ाने और निशाना करनेपर लचकता है) कि किसीका घात किया, सर्प झुका कि लपककर काटा, बिल्ली दबकी (सिमिटकर बैठी) कि मूसा आदिको लिया। सब दूसरेको दुःख देनेके लिये ही नवते हैं (शिला)। पुनः (ग) अङ्कुश और धनुष दूसरेके प्रेरनेसे दुःख देते हैं, सर्प और बिल्ली स्वतः भी दुःख देते हैं और दूसरेकी प्रेरणासे भी रावणको शूर्पणखाने प्रेरित किया और फिर अपनी इच्छासे भी रावणने यही निश्चय किया।

प० प० प्र०—श्रीमद्गोस्वामीजी प्रायः केवल अर्थ या सिद्धान्तके दृढ़ी-करणके लिये अनेक दृष्टान्त नहीं देते। वे अनेक दृष्टान्तोंका उपयोग प्रायः तभी करते हैं जब एक दृष्टान्तसे वक्तव्य पूरा नहीं होता और विशेषार्थका बोध कराना आवश्यक समझते हैं। इसी भावसे यहाँ चार दृष्टान्त दिये गये हैं। देखिये अङ्कुश छोटा होता है। वह दुःख भर देता है और वह भी दूसरोंकी शक्तिसे, पर वध नहीं करता। धनुष स्वयं पीड़ा नहीं देता पर दूसरोंको बहुत प्रेरणा और चैतन्यता तथा गति और शक्ति देता है, आप सुदूर रहता है। वैसे ही यह दृष्टान्त उन लोगोंके लिये है जो स्वयं बाजूमें रहकर बिना कारण ही दूसरेके हाथोंसे,

दूसरोंके द्वारा प्राणघातक दुःख भी दे सकते हैं—'**अन्यस्य दशति श्रोत्रम् अन्यः प्राणैर्वियुज्यते**' 'उरग' स्वयं ही डसकर प्राण ले लेता है, पर बिना कारण नहीं। यह दृष्टान्त उन दुर्जनोंके लिये है जो दूसरोंको स्वयं ही शिक्षा (दण्ड) देते हैं जो भी उनका स्पर्श करे। 'बिलाई' के दृष्टान्तसे स्वाभाविक वैर जनाया। इस तरह यहाँ चार प्रकारके नीचोंका दिग्दर्शन कराया है (चारों प्रकारकी नीचता रावणमें दिखायी)।

☞कथाके सन्दर्भका किञ्चित् आश्रय लेकर नीतिके सिद्धान्तोंको सहज सुलभ दृष्टान्तोंसे ग्रथित करना यह तुलसी काव्यकलाका एक वैशिष्ट्य है।

टिप्पणी—३ (क) [नम्रता और प्रियवाणी ये दोनों गुण हैं, और सुखदायक हैं। परंतु खलमें इनका होना स्वार्थ-साधनके प्रयोजनसे ही होता है! अतः उसमें ये अवगुण और दुःखदायी कहे गये। यहाँ उदाहरण, लेश और विरोधाभास अलङ्कार हैं। बिल्ली, सर्प आदि झुके तो समझ लो कि घात करना ही चाहते हैं।] (ख) '***भयदायक खल कै प्रिय बानी***' से जनाया कि कठोर वाणी तो भयदायक होती ही है और खल प्रायः कठोर वचन बोलते हैं; यथा—'*बचन बज्र जेहि सदा पियारा।*' जब कठोर बोलते हैं तब उनके लिये वज्रकी उपमा देते हैं, और 'प्रिय' बोलनेमें अकालके फूलकी उपमा देते हैं, क्योंकि यह उनकी प्रकृतिके विरुद्ध है जैसे वह फूल प्रकृतिके नियमके प्रतिकूल है। अतः दोनों भयदायक हैं। पुनश्च यथा मत्स्यपुराणे—'**अद्भुतानि प्रसूयन्ते तत्र देशस्य विद्रवाः। अकाले फलपुष्पाणि देशविद्रवकारकः॥ दुर्जनैरुच्यमानानि सम्मतानि प्रियाण्यपि। अकालकुसुमानीव भयं संजनयन्ति हि॥**', (१-२) अर्थात् देशमें भयानक काल उपस्थित होनेपर आश्चर्यजनक बातें पैदा होने लगती हैं। अकालके फल-फूल देशमें भयानकता उपजानेवाले होते हैं। यदि दुर्जनोंके मुँहसे प्रिय सम्मतियाँ भी निकलें तो अकाल कुसुमोंकी तरह अवश्य भय पैदा करती है (मा० म० इसे पद्मपु० का और पं० रा० कु० मत्स्यपु० का श्लोक कहते हैं)। [रामचन्द्रजीके लङ्कामें पहुँचते ही वहाँ बिना समयके फल-फूल हुए, यह रावणके लिये अपशकुन हुआ, श्रीरामजीको उससे लाभ हुआ—'*सब तरु फरे रामहित लागी। रितु अरु कुरितु कालगति त्यागी॥*' (६। ५) अकालके कुसुमकी उपमा देकर जनाया कि मारीचवध होगा और निशिचरकुलका नाश यह प्रियवाणीका फल हुआ।]

मा० हं० पूर्वोक्त दोहा २३ (३-६) का लेख देखिये। विचारोंसे स्वामीका अपना रावण कहींसे भी लिया हुआ नहीं है। उनका रावण कभी कामी, कभी क्रोधी, कभी बकध्यानी, कभी स्त्रियोंको डरानेवाला, कभी उनसे भी डरनेवाला, इस प्रकारका हुआ है। इसीलिये स्वयं गोसाईंजी कहते हैं कि अध्यात्म और वाल्मीकिकी अपेक्षा उनके रावणसे विशेष डरकर ही रहना भला है। क्योंकि '***नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अकालके कुसुम*****……**' यानी '**अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयङ्करः।**' इन सब कारणोंसे एवं कवि-परिचय* से ज्ञात होता है कि गोसाईंजीने अपने रावणका वर्णन अकबरका लक्ष्य करके बनाया है।

दोहा—करि पूजा मारीच तब सादर पूछी बात।
कवन हेतु मन ब्यग्र अति अकसर आएहु तात॥ २४॥

शब्दार्थ—*अकसर* [एक+सर (प्रत्यय)]=अकेले। *ब्यग्र* =उदास।

* गोसाईंजीकी रामायणका काल अकबर बादशाहीका था। उस अमलदारीकी जो भीतरी बातें थीं वे धूर्तताकी थीं, फलस्वरूप हिंदूधर्मकी ग्लानि, राजपूत स्त्री-पुरुषोंकी घोर विडंबना, जातिव्यवस्थापर प्रहार, बालविवाहकी रुकावट, विधवाविवाह-प्रोत्साहन, यावनी-धर्मका प्रचार, फारसीभाषा और मुसलमानी प्रथाओंका मनमाना फैलाव, 'कंटकं कंटकेनैव' की राजनीति इ० इ० हैं। मुगलोंकी अमलदारीका हेतु और उसके भावी परिणाम, गोस्वामीजीके व्यापक निरीक्षणमें शीघ्र ही आ चुके थे। ये ही अत्याचार गोसाईंजीके दैनिक दृश्य बन गये और इन्हीं दृश्योंपर उन्होंने रावणके अत्याचारकी छाप लगा दी और दूसरे ही क्षण बड़े त्वेषसे 'जिन्हके यह आचरण भवानी। ते जानहु निसिचर सब प्रानी॥' इस असंबद्ध चौपाईको बीचहीमें घुसेड़कर उन्होंने अपने रावणको ध्वनित कर दिया।……अकबरकालीन देशस्थितिका वर्णन गोसाईंजीने (कवित्त रामायणमें) कैसी हृदयस्पर्शी वाणीसे किया है—शङ्काकार उसे अवश्य देखें।—(मा० हं०)

अर्थ—तब मारीचने पूजा करके आदरपूर्वक बात पूछी। हे तात! किस कारण तुम्हारा मन अत्यन्त चिन्तित है जो तुम अकेले आये हो॥ २४॥

टिप्पणी—१ रावणने स्वार्थवश होकर अपनी मर्यादा छोड़ दी और उसे माथा नवाया परन्तु मारीचने अपनी मर्यादा रखनेके लिये पूजा की। पूजा करके तब आगमनका हेतु पूछा। इसी प्रकार पूछनेकी रीति है, यथा—*'चरन पखारि कीन्हि अति पूजा। मो सम आजु धन्य नहिं दूजा॥''केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहउ सो करत न लावौं बारा॥'* (१। २०७, दशरथवाक्य विश्वामित्रके प्रति) पुनः, यथा—*'करि पूजा समेत अनुरागा। मधुर बचन तब बोलेउ कागा॥ नाथ कृतारथ भयउँ मैं तव दरसन खगराज। आयसु देहु सो करउँ अब प्रभु आयेहु केहि काज॥'* (७। ६३)

नोट—१ अ० रा० में भी ऐसा ही है। यथा—'""**पूजयित्वा यथाविधि। कृतातिथ्यं सुखासीनं मारीचो वाक्यमब्रवीत्। समागमनमेतत् ते रथेनैकेन रावण। चिन्तापर इवाभासि हृदि कार्यं विचिन्तयन्॥**' (३। ६। ४-५)

दसमुख सकल कथा तेहि आगें। कही सहित अभिमान अभागें॥ १॥
होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनौं नृप नारी॥ २॥

अर्थ—भाग्यहीन दशाननने अभिमानसहित सारी कथा उसके सामने कही॥ १॥ (फिर बोला—) तुम छल करनेवाले कपटमृग बन जाओ, जिस प्रकारसे मैं राजाकी स्त्रीको हर लाऊँ॥ २॥

नोट—१ अभिमानसहित बोलनेके सम्बन्धसे *'दसमुख'* कहा, मानो दसों मुखोंसे कह रहा है। श्रीरामजीसे वैर ठाना, अतः अभागा कहा। यथा— *'बेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत पुजावन रावन सो नित आवैं। दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि तें सिर नावैं॥ ऐसेहु भाग भगे दसभाल तें जो प्रभुता कबि कोबिद गावैं। राम से बाम भएँ तेहि बामहि बाम सबै सुख संपति लावैं॥'* (क० ७। २), *'राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस।'* जहाँ यह सुझाना होता है कि वैर करोगे तो दस शीश काटे जायँगे। वहाँ प्रायः 'दशशीश' पद देते हैं।

नोट—२ अकंपनने आकर जब रावणसे खरदूषणादिके नाशका समाचार कहा और वह सुनकर बोला कि मैं अभी दोनोंको मारने जाता हूँ—'**गमिष्यामि जनस्थानं रामं हन्तुं सलक्ष्मणम्**' (वाल्मी० ३। ३१। २१), तब अकंपनने दोनोंका बल प्रताप बखानकर कहा कि तुम उनको नहीं जीत सकते—'**नहि रामो दशग्रीव शक्यो जेतुं रणे त्वया। रक्षसां वापि लोकेन स्वर्गः पापजनैरिव॥**' (वाल्मी० ३। ३१। २७) यह कहकर उसने रावणसे उनके मारनेका यही उपाय बताया कि तुम उनको धोखा देकर उनकी सुन्दर स्त्रीको हर लाओ, उसकी सुन्दरताको देवी, गन्धर्वी, अप्सरा, पन्नगी कोई भी नहीं पा सकता, सीताके बिना रामचन्द्रजी जी नहीं सकते। इस सलाहको रावणने पसन्द किया। इसीसे सीताहरणका विचार उसके जीमें हुआ। अध्यात्ममें शूर्पणखाकी ही यह सलाह दी हुई जान पड़ती है और मानसमें रावणका स्वयं अपना यह विचार जान पड़ता है। शूर्पणखाके *'तिन्हके संग नारि एक स्यामा॥ रूपरासि बिधि नारि सँवारी। रति सतकोटि तासु बलिहारी॥'* इन वचनोंने उसके कामी मनको उभारकर ये विचार उत्पन्न किये होंगे।

टिप्पणी—१ (क) *'तेहि आगे'* अर्थात् इसीसे कहा, और किसीसे न कहा। एकान्तमें इससे कहा। (ख) *'सहित अभिमान'* यह कि वे राजकुमार हैं, उनका छलना क्या? हमने तो देवताओंतकको छलसे वश कर लिया। (ग) *'होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी""नृप नारी'* शूर्पणखाने कहा था कि *'अवधनृपति दसरथ के जाए। पुरुषसिंघ बन खेलन आए॥'* और *'तिन्ह के संग नारि एक स्यामा'*, यही मारीचको समझाकर कहा कि तुम कपटमृग बन जाओ, राजा हैं शिकार करेंगे, तुम उन्हें शिकारके बहाने सीताके निकटसे बहुत दूर ले जाकर कर दो, फिर स्त्रीका हरण हमारे हाथ है, हमने उसकी विधि सोच ली है। यती बनकर हरण करूँगा। उन्होंने हमारी बहिनको कुरूपा किया, हम उनकी स्त्री हरेंगे। (घ) *'छलकारी'* यथा—*'प्रगटत दुरत करत छल भूरी।'* पुनः, रामजीके स्वरमें बोला यह छल किया। विशेष (२७। १५) में देखिये।

तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा। ते नर रूप चराचर ईसा॥ ३॥
तासों तात बयरु नहिं कीजै। मारें मरिअ जिआए जीजै॥ ४॥

अर्थ—तब मारीचने (वा, मारीचने पुनः) कहा—'हे दशशीश! सुनो, वे मनुष्यरूपमें चराचरके स्वामी हैं॥ ३॥ हे तात! उनसे वैर न कीजिये। उनके मारनेसे मृत्यु और जिलानेसे जीना होता है'॥ ४॥

टिप्पणी—१ '*तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा*············' इति। (क) '*पुनि*' शब्द देकर जनाया कि एक बार पहले कहकर उसे वैरसे निवारण कर चुका है, अब '*पुनि*' समझाता है। [पहले अकम्पनने जनस्थानसे भागकर लङ्कामें आकर रावणको खबर दी तब वह मारीचके यहाँ गया और मारीचके समझानेपर लौट आया था। यथा—'**एवमुक्तो दशग्रीवो मारीचेन स रावणः। न्यवर्तत पुरीं लङ्कां विवेश च गृहोत्तमम्॥**' (वाल्मी० ३। ३१। ५०) इस कथाको '*पुनि*' शब्दसे जनाकर वाल्मीकिके मतकी भी रक्षा की। दूसरा अर्थ '*पुनि*' का तत्पश्चात् है।] (ख) '*दससीसा*' जब कथा उसने मारीचसे कही तब 'दसमुख' पद दिया, यथा—'*दसमुख सकल कथा तेहि आगें। कही सहित अभिमान अभागें॥*' कथा मुखसे ही कही जाती है। जब उसको वैरसे निवारण करनेकी बात कही तब 'दससीस' पद दिया, भाव कि वैर करनेसे दसों सिर काटे जायँगे, यथा—'*तव सिर निकर कपिन्हके आगें। परिहहिं धरनि राम सर लागें॥*' (६। २७) पुनः भाव कि बीसों कानोंसे सुनो और [दसों मस्तिष्कोंसे उसे विचार करो कि जो बात मैं कहता हूँ वह हितकी है, उसे मानना चाहिये। (प० प० प्र०)] (ग) '*ते नररूप चराचर ईसा*' इति।—भाव कि तुम उन्हें नृप समझते हो, यह भूल है। वे नृप नहीं हैं, नररूप धारण किये हुए चराचरके ईश हैं।

टिप्पणी—२ '*तासों तात बयरु नहिं कीजै*···' इति। (क) भाव कि वैर बराबरवालेसे करना चाहिये। बड़ेसे वैर करनेसे हानि है, यथा—'*प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति अस आहि।*' (६। २३), '*नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुधि बल सकिय जीति जाही सों॥ तुम्हहिं रघुपतिहि अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा॥*···*तासु बिरोध न कीजिय नाथा। काल करम जिव जाके हाथा॥*' (६। ६)[वैर करनेसे क्या होता है यह देखिये—'*राम बिमुख सुख पाव न कोई*', '*राम बिमुख सठ चहसि संपदा।*', '*राखि को सकइ राम कर द्रोही॥*', '*मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥ मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी॥ सब जगु ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥*' (३। २। ५—८) (प० प० प्र०)] (ख) '*मारें मरिअ जिआए जीजै।*' भाव कि वे त्रिदेवरूप हैं, शिवरूप मारनेमें, विष्णुरूप पालने या जिलानेमें और ब्रह्मारूप रचना करनेमें। उन्होंने सुबाहुको मारा, खरदूषणादि उनके मारनेसे मरे, हम उनके जिलानेसे जीवित हैं, नहीं तो कबके मार डाले गये होते। (खर्रा)

मुनि मख राखन गएउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥ ५॥
सत जोजन आएउँ छन माहीं। तिन्ह सन बयरु किए भल नाहीं॥ ६॥
भइ मम कीट भृंग की नाईं। जहँ तहँ मैं देखौं दोउ भाई॥ ७॥

शब्दार्थ—'*फर*'= नोकीला अग्रभाग जो शरीरको बेध देता है, गाँसी। '*भृंग*'—एक प्रकारका कीड़ा जिसे बिलनी भी कहते हैं। इसके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि यह किसी कीड़ेके ढोलेको पकड़कर ले आता है और उसे मिट्टीसे ढक देता है और उसपर बैठकर और डङ्क मार-मारकर इतनी देरतक और इतने जोरसे भिन्न-भिन्न शब्द करता है कि वह कीड़ा भी इसीकी तरह हो जाता है।

अर्थ—वह कुमार मुनि विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षाके लिये गये थे। उस समय श्रीरघुनाथजीने बिना फलका बाण मुझे मारा॥ ५॥ क्षणभरमें मैं सौ योजन (४०० सौ कोस) आ गिरा। (वा, सौ योजन चौड़े समुद्रके पार यहाँ आया) अतः उनसे वैर करनेमें भला नहीं है॥ ६॥ मेरी दशा तो भृङ्गवाले कीड़ेकी-सी हो गयी है अब तो मैं जहाँ-तहाँ दोनों भाइयोंको ही देखता हूँ॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) *'बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा'''* 'इति। अर्थात् मुझे जीता रखा कि आगे सीताहरणमें इससे काम चलेगा और मेरे भाई सुबाहुको मार डाला। बचानेके लिये ही फररहित बाणसे मुझे लङ्कातटपर फेंका था और अब फरसहित मारेंगे तो मेरा मरण अवश्य होगा जैसे सुबाहुका हुआ, यथा-*'बिनु फर राम बान तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥ पावक सर सुबाहु पुनि मारा॥'* (१। २१०) बक्सरसे दक्षिण समुद्र ४०० कोस है और सागर भी ४०० कोस चौड़ा है। *'मारे मरिअ जिआए जीजै'* को यहाँ चरितार्थ किया। [नोट—कोष्ठकका अर्थ बालकाण्डके *'सत जोजन गा सागर पारा'* के समानाधिकरणके विचारसे दिया गया है। वहाँ इसपर विचार भी किया गया है।] (ख) *'कुमारा'* से यह भी जनाया कि जब उनकी कौमारावस्था थी तबकी यह बात है और अब तो वे बहुत बड़े हो गये हैं। ये यज्ञ-रक्षाके लिये गये थे और मैं सेनासहित यज्ञ विध्वंस करने गया था (इसी तरह हनु० १४—३४ में मन्दोदरीके वाक्य हैं। यथा—**'उत्पाटयन्किमपि कौणपकोटिमन्तस्तेजो हुताशनसमिन्धनसामिधेनीम्। हस्ताढकीमकृत बालतरः पृषत्कैरीषज्जयं स्फुटमनेन दशाननोऽपि॥'** अर्थात् अत्यन्त बाल्यावस्थामें उन्होंने ताड़काके हृदयकी अग्निमें अनेक राक्षसोंका हवन कर दिया था और अब तो वे तरुण और लघुहस्त हैं) [(ग) *'रघुपति'* का भाव कि रघुवंशी किसी महावीरने जिस कार्यके करनेका कभी प्रयत्न भी नहीं किया उसीको इन्होंने केवल बालकेलिके धनुषसे साध्य किया। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'भइ मम कीट भृंग की नाई'* इति। (क) जैसे कृष्णभगवान् कंसको सर्वत्र देख पड़ते थे वैसे ही इसे 'राम-लक्ष्मण' सर्वत्र देख पड़ते थे। तात्पर्य कि मैं भयके मारे उनके समीप नहीं जा सकता। (ख) *'देखौं दोउ भाई'* कहा, क्योंकि यज्ञरक्षामें दोनों भाई साथ थे। (ग) भृङ्ग और कीटका दृष्टान्त दिया क्योंकि भृङ्ग कीड़ेको चारों ओर फिराता और उसे शब्द सुनाता है, वैसे ही रामबाणने इसे चक्रकी तरह भँवाया-फिराया और यहाँ फेंका, अतएव भयभीत हुआ सर्वत्र उन्हींको देखता है।—[जो कीट भृङ्गीसे छूटा तो भयके मारे उसे सर्वत्र भृङ्गी ही देख पड़ता है। भृङ्गी कीटको उड़ा ले जाता है वैसे ही बाण मुझे उड़ा लाया। केवल भय होता तो कंसकी उपमा देते, भृङ्गीकी न देते। (खर्रा) पर कंस द्वापरमें हुए हैं और यह प्रसङ्ग त्रेताका है।]

नोट—१ दूसरी बार जब रावण मारीचके पास गया तब उसने अपना पूर्व वृत्तान्त कहते हुए यह भी कहा कि पूर्व बिना फरके बाणसे तो मैं इधर आ गिरा था तथापि मुझे कुछ ग्लानि न हुई थी और मैं मृगरूप धरकर दण्डकारण्यमें मुनियोंको डरवाता और खाता रहा। उसके उपरान्त जो अद्भुत बात हुई वह सुनो। एक बार मैं दण्डकारण्यमें तपस्वी रामके समीप गया और उनके पराक्रमको भूलकर पुराना वैर यादकर मैं उनको सींगोंसे मारनेको बढ़ा। उन्होंने तीन बाण चलाये। मेरे दो साथी मारे गये। मैं किसी तरह भागकर बचा। बस, उसी समयसे भयभीत होकर मैं बुरे कर्मोंको छोड़कर योगाभ्यासी तपस्वी हो गया हूँ। वृक्ष-वृक्षमें चीर कृष्ण मृगचर्म और धनुष धारण करनेवाले रामको पाश लिये हुए यमराजके समान देखता हूँ। एकबारगी ही सहस्रों रामको एवं सारे वनको राममय ही देखता हूँ। यद्यपि वे यहाँ नहीं हैं तो भी सर्वत्र वे ही मुझे देख पड़ते हैं। स्वप्नमें भी उन्हें देखकर मैं घबड़ाता हूँ। जिन शब्दोंमें रकार आदिमें है उन्हें सुनकर मैं भयभीत हो जाता हूँ। यथा—**'वृक्षे वृक्षे हि पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्। गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम्॥ अपि रामसहस्राणि भीतः पश्यामि रावण। रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे॥ राममेव हि पश्यामि रहिते राक्षसेश्वर। दृष्ट्वा स्वप्नगतं राममुद्भ्रमामीव चेतना॥ रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण। रत्नानि च रथाश्चैव वित्रासं जनयन्ति मे॥'** (वाल्मी० ३। ३९। १५—१८))

जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा॥ ८॥

दोहा—जेहिं ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदंड।
खरदूषन तिसिरा बधेउ मनुज कि असि बरिबंड॥ २५॥

अर्थ—हे तात! यदि वे मनुष्य ही हों तो भी बड़े ही शूरवीर हैं। उनसे वैर करके पूरा न पड़ेगा॥ ८॥ जिन्होंने ताड़का और सुबाहुको मारकर शिवजीका धनुष तोड़ा और खर-दूषण-त्रिशिराका वध किया, क्या मनुष्य ऐसा प्रतापी बलवान् हो सकता है? अर्थात् कभी नहीं॥ २५॥

टिप्पणी—१ *'जौं नर तात तदपि अति सूरा'''* इति। (क) रावणके *'जेहि बिधि हर आनहुँ नृप नारी'* इन वचनोंका यह उत्तर है। ये वचन रावणकी 'खातिरी' के लिये कहे। (ख) इन शब्दोंसे स्पष्ट किया कि मारीचको इनके अवतारमें निश्चय है, मनुष्य होनेमें सन्देह है। *'जौं नर'* रावणकी खातिरीके लिये कहे। स्वयं उनको ईश्वर ही जानता है; यथा—*'ते नर रूप चराचर ईसा।'* पुनः, रावणने 'नर' कहा, यथा—*'जेहि बिधि हरि आनौं नृप नारी'* इसीसे उसने भी कहा कि *'जौं नर''''अति सूरा'* अर्थात् यदि नर ही मानते हो, जगदीश नहीं तो भी वे शूरोंमें सर्वोपरि हैं।

नोट—१ *'तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा'* में भाव यह है कि मैं विरोध करूँगा तो मैं मारा ही जाऊँगा पर तुम्हारा तो सपरिवार नाश होगा, इसका मुझे शोक है, इसीसे मैं समझाता हूँ। यथा—**'अत्रत्वं शोचनीयोऽसि ससैन्यो विनशिष्यसि॥ मां निहत्य तु रामोऽसावचिरात्त्वां वधिष्यति।'''''''''आनयिष्यसि चेत्सीतामाश्रमात्सहितो मया। नैव त्वमपि नाहं वै नैव लङ्का न राक्षसाः॥'** (वाल्मी० ३। ४१। १६—१९) अर्थात् यदि तुम मेरे साथ जाकर सीताको ले आओगे तो मुझे, तुम्हें, लङ्का और समस्त राक्षसोंको कोई न बचा सकेगा।

टिप्पणी—२ *'जेहि ताड़का सुबाहु''''बरिबंड',* अर्थात् ये सब काम मनुष्योंसे होनेवाले नहीं हैं, यथा—*'मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी॥ घोर निसाचर बिकट भट समर गनहिं नहिं काहु। मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु॥'* (१-३५६), *'''''''''कमठ पीठि पबि कठिन कठोरा। नृपसमाजु महुँ सिवधनु तोरा॥ सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥'* खरदूषणवधसे रावणको स्वयं ही संदेह हो गया कि ये नर नहीं हैं। मारीच, ताड़का और सुबाहु आदिका वध तो पूर्वसे ही जानता था किंतु खरदूषणादिका वध उसने रावणसे सुना; यथा—*'दसमुख सकल कथा तेहि आगे।'* कही, नहीं तो रात्रिभरमें इससे और कौन आकर कहनेवाला था।

टिप्पणी—३ मारीचने पहले अपना हाल कहकर तब अपनी माता और भाईका हाल कहा। प्रथम ताड़का-वध हुआ, अतः प्रथम उसे कहा। आधे दोहे (पूर्वार्ध) में बालकाण्ड और आधे (उत्तरार्ध) में अरण्यकाण्ड कहा।

नोट—२ श्रीरामचरितमानस सच्चा इतिहास है। तथापि इस ऐतिहासिक चरित्रको लेकर आत्मरामायण भी बनाया गया है। उसका आध्यात्मिक रूपकद्वारा वर्णन भी ग्रन्थकारने स्वयं विनयपत्रिका पद ५८ में किया है कि जिसमें इस शरीरको ही ब्रह्माण्ड, सुप्रवृत्तिको लङ्कादुर्ग, मोह, अहङ्कार कामादिको क्रमशः रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद आदि, जीवको विभीषण इत्यादिसे रूपक दिया गया है। प्रेमी पाठक वहाँ देख लें। 'आत्मरामायण' में बहुत विस्तृत रूपक देखनेमें आया था। समग्र मानसमें इसी प्रकार विरक्त महात्माओंने आध्यात्मिक दृष्टिसे उसके अपरोक्षार्थ लगाये हैं। इस अर्थका जितना आधार मानसमें मिलता है इतना अन्य किसी भी रामायणमें नहीं मिलता। स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीके ऐसे अपरोक्षार्थ कुछ यहाँ दिये जाते हैं। (१-३२५ छंद ४ में भी देखिये)

प० प० प्र०—श्रीरामचन्द्रजी (एवं प्रत्येक स्वहितसाधक) प्रत्यगात्मस्वरूप हैं। ताड़का देहबुद्धि (स्थूलदेह तादात्म्यबुद्धि) है। सुबाहु, मारीच क्रमशः कारण और सूक्ष्म शरीर हैं। विश्वामित्रका यज्ञ ज्ञानसत्र है। शङ्करजीका धनुष भव अर्थात् संसृति है। श्रीसीताजी परम शान्तिस्वरूपा हैं। जैसे श्रीरामजीने प्रथम ताड़काको मारा वैसे ही प्रत्येक साधकको प्रथम देहबुद्धिरूपिणी ताड़काका नाश करना आवश्यक है। उसका नाश किये बिना सुबाहुरूपी कारणदेह (अज्ञान) का नाश असम्भव है। श्रीरामजीने मारीचको वायव्यास्त्रसे रामाकार करके अत्यन्त दूर रख दिया क्योंकि उससे आगे काम लेना है। इसी तरह सूक्ष्म देहरूपी मारीचको प्राण-निग्रहरूपी योगाभ्याससे वश किये बिना *'सोऽहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥'* प्रज्वलित नहीं हो सकती और इस तुरीयाके बिना जड़-चेतन ग्रंथिका छूटना असंभव है। जब कीट भृङ्गके

समान आत्माकार वृत्ति होती है तब हृदयमें *'आतम अनुभव सुप्रकासा'* छा जाता है। तत्पश्चात् सुबाहुरूपी कारणदेह-मूलाज्ञान-मूलाविद्या जड़चेतनग्रन्थि तोड़नी पड़ती है। सुबाहुका नाश अग्निबाणसे किया गया और यहाँ योग अग्नि है, यथा—*'जोग अगिनि करि प्रकट'''।'*

मारीचरूपी सूक्ष्मदेह-लिङ्गदेहको प्रथम ही मार डालनेसे अहङ्कार (ज्ञानाहङ्कार भी) रूपी रावणका वध हो ही नहीं सकता। ज्ञानानुभूतिका दृढ़ीकरण अशक्य होगा, इसीलिये उसे भर्जित बीजके समान प्रारब्धक्षयान्ततक रखना ही पड़ता है। यहाँ बाधक मुख्याहङ्कारको समझना चाहिये न कि शास्त्रीय-साधक अहङ्कार अथवा गौण अहङ्कारको।

जाहु भवन कुल कुसल बिचारी। सुनत जरा दीन्हिसि बहु गारी॥ १॥
गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा॥ २॥

अर्थ—अपने कुलकी कुशल विचारकर घर लौट जाओ। यह सुनकर रावण जल उठा और उसने बहुत गालियाँ दीं॥ १॥ रे मूर्ख! तू गुरुकी तरह मुझे ज्ञानोपदेश करता है। कह तो, संसारमें मेरे समान कौन योद्धा है? ॥ २॥

नोट—१ वाल्मी० ३। ३१ में मारीचकी शिक्षा पढ़ने योग्य है, अतः कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—**'सीतामिहानयस्वेति को ब्रवीति ब्रवीहि मे। रक्षोलोकस्य सर्वस्य कः शृङ्गं छेत्तुमिच्छति॥ प्रोत्साहयति यश्च त्वां स च शत्रुरसंशयम्। आशीविषमुखाद् दंष्ट्रामुद्धर्तुं चेच्छति त्वया॥ कर्मणानेन केनासि कापथं प्रतिपादितः। सुखसुप्तस्य ते राजन् प्रहृतं केन मूर्धनि॥ विशुद्धवंशाभिजनाग्रहस्ततेजोमदः संस्थितदोर्विषाणः। उदीक्षितुं रावण नेह युक्तः स संयुगे राघव गन्धहस्ती॥ असौ रणान्तःस्थितिसंधिवालो विदग्धरक्षोमृगहा नृसिंहः। सुप्तस्त्वया बोधयितुं न शक्यः शराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः॥ चापापहारे भुजवेगपङ्के शरोर्मिमाले सुमहाहवौघे। न राम पातालमुखेऽतिघोरे प्रस्कन्दितुं राक्षसराज युक्तम्॥'** (४३—४८) अर्थात् हमसे यह कहो कि सीताको लङ्कामें लानेके लिये कौन कहता है। कौन राक्षसोंके लोकका शृङ्ग काटना, उनके गौरवका नाश करना चाहता है। जो आपको इस विषयमें प्रोत्साहित करता है वह आपका शत्रु अवश्य है, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि वह विषधर सर्पके मुखसे विषवाला दाँत तुम्हारे हाथों उखड़वाना चाहता है। हे राजन्! इस जानकीके हरणरूप कर्मसे तुम्हें कुकर्म-पथमें चलना किसने सिखलाया है? अपने घरमें सुखस्वरूप सोते हुए आपके मस्तकपर यह थपेड़ा किसने जमाया। जिसका विशुद्ध इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न होना मानो सूँड़ है, तेज प्रताप ही महामद है, दीर्घबाहु ही दोनों दाँत हैं, ऐसे रामचन्द्ररूपी मदान्ध हाथीको आप छेड़ने योग्य नहीं। हे रावण! रणके मध्यकी स्थितिके लिये उत्सुकता ही जिसके संधि और बाल हैं, रणकुशल राक्षसरूपी मृगोंके नाश करनेवाले तीक्ष्ण बाण ही अङ्ग हैं, तीक्ष्ण असि ही दाँत हैं, ऐसे सोते हुए रामचन्द्ररूपी नृसिंहको आप न जगाइये॥ हे राक्षसराज रावण! धनुषके चढ़ानेमें जो भुजाओंका वेग है वही जिसमें कीचड़ है और बाणोंका चलाना जिसमें लहरें हैं ऐसे अतिघोर रामरूपी पातालमुखमें कूदने योग्य आप नहीं हैं।

टिप्पणी—१ *'सुनत जरा दीन्हिसि बहु गारी॥ गुरु जिमि'''* इति। १—मारीचने बारम्बार वैर छोड़नेका उपदेश किया। यथा—*'तासों तात बयरु नहिं कीजै। मारें मरिअ जिआए जीजै॥'*, *'सत जोजन आएउँ छन माहीं। तिन्ह सन बयरु किए भल नाहीं॥'*, *'जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा॥'* इसीसे वह जल उठा।

टिप्पणी—२ ☞वैर-निवृत्तिका उपदेश जो देता है उसपर वह क्रुद्ध होता है, यथा—*'मृत्यु निकट आई खल तोहीं। लागेसि अधम सिखावन मोहीं॥'*-(हनुमन्तः), *'बूढ़ भएसि न तु मरतेउँ तोही। अब जनि नयन दिखावसि मोही॥'*-(माल्यवन्तः), *'पुनि दसकंठ रिसान अति तेहि मन कीन्ह बिचार। रामदूत कर मरउँ बरु यह खल रत भल मार॥'*—(कालनेमिः)

टिप्पणी—३ जो कोई भी दूसरे वीरकी बड़ाई करता है उसपर रावण क्रोध करता है। यथा—*'रिपु*

उतकर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ।' (५। ४०) *'आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे।'* (६। २९)

तब मारीच हृदय अनुमाना। नवहि बिरोधे नहिं कल्याना॥ ३॥
सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी। बैद बंदि कबि भानस* गुनी॥ ४॥

शब्दार्थ—*भानस गुणी* =महानस अर्थात् रसोईके काममें गुणवान्=कुशल रसोइया। महानसका अपभ्रंश 'भानस' 'म्हानस' और 'मानस' भी हो सकता है।

अर्थ—तब मारीचने हृदयमें विचार किया कि शस्त्री (शस्त्रका धारण करनेवाला), भेद जाननेवाला, समर्थ स्वामी, शठ (मूर्ख), धनवान्, वैद्य, भाट, कवि और रसोइया इन नवसे वैर करनेसे कल्याण नहीं होता॥ ३-४॥

नोट—१ चाणक्यनीतिमें ऐसा ही कहा है—'**शस्त्री प्रभेदी नृपतिश्शठो वैद्यो धनी कविः। बंदी गुणीतिव्याख्यातैर्नवभिर्न विरुद्ध्यताम्**॥', भेद केवल इतना ही है कि यहाँ 'भानस गुणी' है और श्लोकमें केवल 'गुणी' नवाँ है।

नोट—२ शस्त्री जो शस्त्र-विद्यामें निपुण है एवं शस्त्रधारी। मर्मी जो अपना गुप्त भेद जानता है, जैसे विभीषण रावणके नाभिमें अमृतकुण्डका होना जानते थे। समर्थ जैसे राजा। शठ वह है जो अपनी हानि-लाभ स्वयं नहीं जानता। भानस-गुणी रसोई करनेवाला। इनसे विरोध करनेसे शस्त्री सिर ही काट लेगा। मर्मी शत्रुसे भेद बता देगा, राजा जीता न छोड़ेगा, मूर्ख मित्र भी हो तो शत्रुता कर लेगा, धनी रुपयेके बलपर अनेक मुकदमे लगाकर वा दूसरोंको लालच देकर वैरीको कष्ट देगा, वैद्य उलटी दवा न दे दे, भाट और कवि संसारमें अपकीर्ति फैला देंगे, रसोइया विष मिला देगा।

शिला—रावण शस्त्री है मार ही डालेगा, इसके हाथमें शस्त्र है। मेरा मर्म जानता है कि कितना बल है। राजा है, ढूँढ़कर मारेगा। शठ है इसे विचार नहीं कि मेरे उपदेशपर न चलनेसे कुलका नाश होगा, बात काटनेसे वैर बिसाहेगा। धनवान् है, दूसरेके पास जा छिपूँ तो ऐश्वर्यके बलसे मुझे लेकर मारेगा, दूसरोंको धन देकर मरवा डालेगा। बन्दी और कवि कवितामें अगणगण डालकर उससे अकल्याण करते हैं, वैसे ही यह पण्डित है मेरा नाश करेगा। 'मानस गुणी' अर्थात् सगुणिया वा ज्योतिषी है जहाँ जाकर छिपूँगा जान लेगा। [☞ पर यहाँ शस्त्री प्रस्तुत है, अतः उसे प्रथम कहा। शेष सब नीति उपदेशमें कहे गये। यह अभिप्राय नहीं है कि ये सब बातें रावणमें हों ही। (मा० सं०)]

मा० म०—किसका कल्याण नहीं है ? शस्त्रीसे विरोध करनेसे शस्त्ररहितका, मर्मीसे कमसल अर्थात् जारजका, प्रभुसे अनुगामीका, शठसे साधुका, धनीसे निर्धनका, वैद्यसे रोगीका, बंदीसे सूरका, कविसे राजाका, भानसगुणीसे खानेवालेका कल्याण नहीं। इन नवका कल्याण नहीं होता। सबका ही अकल्याण हो यह बात नहीं।

उभय भाँति देखा निज मरना। तब ताकिसि रघुनायक सरना॥ ५॥
उतरु देत मोहि बधब अभागे। कस न मरौं रघुपति सर लागे॥ ६॥

---

* भानस गुनी पं० शिवलाल पाठक और काशिराजकी प्रतियोंमें भी है काष्ठजिह्वास्वामीने उसका अर्थ रसोइया लिखा है'। पं० रामगुलाम द्विवेदीने 'मानस गुनी' पाठ दिया है। बन्दनपाठकने 'मानस गुनी' का अर्थ ज्योतिषी और सगुणिया किया है। 'मानस गुनी'—१७२१, १७६२, में। प्रज्ञानानन्दजी बताते हैं कि संस्कृतमें भी कहीं-कहीं 'ह' के स्थानपर 'भ' आता है। यथा—'दोषगृभीतगुणाम्' (वेदस्तुति श्लोक)=दोषगृहीतगुणाम्। अमरकोषमें 'रसोइया' के लिये सूपकार, बलुव, आरालिक, आन्धसिक, सूद, औदनिक और गुण, ये सात शब्द आये हैं। यथा—'सूपकारस्तु बलुवाः। आरालिका आन्धसिकाः सूदा औदनिका गुणाः।' इनमेंसे 'गुण' शब्दके लिये ही चाणक्य-नीतिमें 'गुणी' शब्द आया है। 'गुणी' शब्द अनेकार्थवाची है और एकार्थनिर्णयके लिये श्लोकमें कुछ भी साधन नहीं है, इसीसे गोस्वामीजीने यहाँ उसका अर्थ स्पष्ट कर दिया कि 'गुणी' का अर्थ 'भानस गुणी' अर्थात् 'पाकशालामें निपुण' है।

अस जिय जानि दसानन संगा। चला राम पद प्रेमु अभंगा॥ ७॥
मन अति हरष जनाव न तेही। आजु देखिहौं परम सनेही॥ ८॥

अर्थ—जब मारीचने दोनों प्रकारसे अपना मरण देखा तब उसने रघुनायककी शरण ताकी॥ ५॥ वह (मनमें विचारता है कि) यह अभागा उत्तर देनेसे मार डालेगा तो रघुनाथजीके बाण लगनेसे ही क्यों न मरूँ?॥ ६॥ हृदयमें ऐसा समझकर वह रावणके साथ चला। श्रीरामजीके चरणोंमें उसका अटूट प्रेम है, मनमें अत्यन्त हर्ष है कि आज मैं अपने परम स्नेहीका दर्शन करूँगा; पर यह बात वह उसपर प्रकट नहीं करता॥ ७-८॥

टिप्पणी—१ *'उभय भाँति देखा निज मरना'''* इति। अर्थात् जो इसके राज्यमें न बसे, इससे विरोध न करे, वह भले ही बच जाय, यह नीति तो औरोंके लिये है। और, हमारी तो दोनों प्रकार मृत्यु ही होनी है। इससे विरोध नहीं करते तो भी नहीं बच सकते और विरोध करते हैं तो भी मारे जायँगे। उधर रामजीके हाथ, इधर इसके हाथ।

नोट—१ शरण ताकी, क्योंकि वे वैरभावसे भी शरण होनेपर निजधाम ही देते हैं, यथा—*'देहिं राम तिन्हहूँ निज धामा॥ उमा राम मृदुचित करुनाकर। बैर भाव सुमिरत मोहिं निसिचर।'* (६। ४४) रामाज्ञामें कहा है—*'इत रावन उत राम कर मीचु जानि मारीच। कपट कनक मृग बेषु तब कीन्ह निसाचर नीच॥'* (प्र०) हनुमन्नाटकमें यों कहा है—**'रामादपि च मर्तव्यं मर्तव्यं रावणादपि। उभयोर्यदि मर्त्तव्यं वरं रामो न रावणः॥'** (२४ अङ्क ३) अर्थात् रामके हाथसे भी मरना ही है और रावणसे भी मरण है। जब दोनोंके हाथों मरण ही है तब रामके हाथों मरना ही श्रेष्ठ है, रावणके हाथसे नहीं।

वाल्मीकीयमें रावणके अन्तिम वचन ये हैं—**'नो चेत्करोषि मारीच हन्मि त्वामहमद्य वै। एतत्कार्यमवश्यं मे बलादपि करिष्यसि॥ राज्ञो विप्रतिकूलस्थो न जातु सुखमेधते।'** (३। ४०। २६) **'आसाद्य तं जीवितसंशयस्ते मृत्युर्ध्रुवो ह्यद्य मया विरुध्यतः। एतद्यथावत्परिगणय्य बुद्ध्या यदत्र पथ्यं कुरु तत्तथा त्वम्।'** (२७) अर्थात् यदि तुम मेरा काम न करोगे तो मैं तुम्हें मार डालूँगा। तुमको मेरा यह काम जबरदस्ती करना होगा। राजाके प्रतिकूल चलनेसे कोई सुखी नहीं हो सकता। रामके सामने जानेसे तुम्हें मृत्युका भय है और मुझसे विरोध करनेपर तुम्हारी मृत्यु निश्चित है। यह सब बुद्धिसे विचारकर जो हित हो वह तुम करो।—यह सब *'उभय भाँति'* का भाव है। इसपर वाल्मीकीयमें जो उसने रावणसे कहा है कि शत्रु रामके द्वारा मारे जानेमें मैं प्रसन्न हूँ; यथा-**'अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिये चाप्यरिणा हतः।'** (३। ४१। १७) इसमें भी यही भाव निहित है कि तेरे हाथसे मरनेमें मैं प्रसन्न नहीं हूँ।

पं० श्रीकान्तशरणजी यह भाव कहते हैं—'मैं प्रसन्न हूँ, अर्थात् तुम मुझे मारोगे तो मैं बदला नहीं ले सकता और इस तरह तो मैं तुम्हें सपरिवार मारकर मानो मरूँगा। इसीका मुझे सन्तोष है। इसीसे उसने श्रीरामजीके प्रति स्नेह रखते हुए भी छल किया कि जिससे इस दुष्टका सपरिवार नाश हो तो मेरी डाह मिटे।' पर दासकी समझमें यहाँ यह भाव नहीं है। उसको शोक है कि इसके कारण राक्षसकुलका नाश होगा **'अत्रैव शोचनीयस्त्वं ससैन्यो विनशिष्यसि।'** (वाल्मी० ३। ४१। १६)

टिप्पणी—२ *'उतरु देत मोहि बधब अभागे।'''* इति। रावण प्रश्नका उत्तर माँगता है—*'कहु जग मोहि समान को जोधा।'* मैं उत्तर दे सकता हूँ कि बड़े योद्धा हो तब चोरी करनेको क्यों कहते हो, युद्ध करके सीताजीको जीत लाओ। धनुष तोड़कर क्यों न ले आये? यथा—*'जनक सभा अगनित महिपाला। रहे तुम्हहु बल अतुल बिसाला॥ भंजि धनुष जानकी बिबाही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥'* पर उत्तर दूँगा तो यह मार डालेगा। *'अभागे'* अर्थात्, यह भाग्यहीन हो गया, इसका सर्वस्व नष्ट होगा।

टिप्पणी—३ *'कस न मरौं रघुपति सर लागे'* अर्थात् रघुपतिके बाणसे मरनेका योग लगा तो मुक्ति होगी। यथा—*'रघुबीर सर तीरथ सरीरन्ह त्यागि गति पैहहिं सही।'* अध्यात्ममें कहा है कि दुष्टके हाथसे मरनेसे नरक होगा, इससे रामजीके हाथ क्यों न मरूँ, यथा—**'यदि मां राघवो हन्यात्तदा मुक्तो भवार्णवात्।**

मां हन्याद्यदि चेद्दुष्टस्तदा मे निरयो ध्रुवम्॥ इति निश्चित्य मरणं रामादुत्थाय वेगतः।' (३। ६। ३६-३७) बाणकी शरण मुक्तिके लिये ली, अतएव बाणद्वारा इसे मारकर प्रभु मुक्ति देंगे।

टिप्पणी—४ *'अस जिय जानि दसानन संगा।…'* इति। *'तब मारीच हृदय अनुमाना'* उपक्रम है और *'अस जिय जानि'* उपसंहार। *'प्रेम अभंगा'* कहा, क्योंकि मरणपर्यन्त इसका प्रेम भङ्ग न हुआ, ऐसा ही बना रहा, यथा—*'प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा॥ अंतर प्रेम तासु पहिचाना'।*

टिप्पणी—५ *'मन अति हरष जनाव न तेही।…'* इति। (क) *'अति हर्ष'* का भाव कि रघुनाथजीके बाणसे मरूँगा यह समझकर हर्ष हुआ और *'आज देखिहउँ परम सनेही'* यह समझकर *'अति हर्ष'* हुआ। (ख) जीवके स्त्री, पुत्र आदि स्नेही हैं और ईश्वर *'परम स्नेही'* हैं, क्योंकि वे गर्भमें भी सङ्ग नहीं छोड़ते। (ग) उससे प्रकट नहीं करता। क्योंकि यदि वह जान ले तो संदेह करेगा कि दुःखके समय इसे सुख क्यों हुआ, यह अवश्य छल करेगा, इसके मनमें कुछ कपट है, ऐसी शङ्का होनेपर वहाँ न ले जायगा, स्वयं ही मेरा वध करेगा।

नोट—२ ☞स्मरण रहे कि रावणने अपना मन्त्र, प्रभुने अपनी युक्ति और मारीचने अपनी मुक्तिका योग गुप्त रखा। तभी तीनों सफलमनोरथ हुए। रावणने कुलसहित मोक्ष पाया, रावण माया-सीताद्वारा छला गया और मारीचने मुक्ति पायी। यदि वे दूसरेको जना देते तो सफल न होते। यथा—*'जोग जुगुति जप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहि जब करिय दुराऊ॥'*

छन्द—निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं।
श्रीसहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन लाइहौं॥
निर्बानदायक क्रोध जाकर भगति अवसहि बस करी।
निज पानि सर संधानि सो मोहि बधिहि सुखसागर हरी॥

अर्थ—अपने परम प्रियतम (प्यारे)को देखकर नेत्रोंको सुफल करके सुख पाऊँगा। श्रीजानकीजीसहित और छोटे भाई लक्ष्मणसमेत कृपाके स्थान श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें मन लगाऊँगा। जिनका क्रोध मोक्षका देनेवाला है और जिनकी भक्ति उसे अवश्य ही वशमें कर लेनेवाली है*। वही आनन्दसिंधु भगवान् अपने हाथोंसे बाण संधानकर मेरा वध करेंगे।

टिप्पणी—१ *'निज परम प्रीतम देखि…'* इति। *'निज'* का भाव कि और सब स्नेही अपने नहीं हैं। और ये स्नेही अपने हैं। सच्चे स्नेही हैं, कभी साथ नहीं छोड़ते। 'निज' शब्द 'सच्चा, खास, अन्तरङ्ग' अर्थोंमें अनेक बार आ चुका है। यथा—*'प्रभु सर्बज्ञ दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी॥'* (१। १४५। ५) *'जे निज भगत नाथ तव अहहीं।'* (१। १५०। ८) *'देखि दसा निज जन मन भाए।'* (३। १०। १६)। [आत्मा ही सबसे प्रिय है **'प्रेष्ठतमः आत्मा'** और श्रीरामजी तो परमात्मा ही हैं। अतः *'परम प्रीतम'* कहा। (प० प० प्र०)]

नोट—१ *'लोचन सुफल करि सुख पाइहौं'* इति। भगवान्‌के दर्शनसे नेत्र सुफल होते हैं! *'होइहैं सुफल आजु मम लोचन।'* (३। १०। ९) *'करहु सुफल सबके नयन सुंदर बदन देखाइ।'* (१। २१८) देखिये। यह सिद्धान्त सातों काण्डोंमें अनेक बार दिया गया है। यथा—*'देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना।'* (१। २११) *'सुफल सकल सुभसाधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू॥'* (२। १०७) *'होइहैं सुफल……'* (उपर्युक्त), *'सो नयन गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं।'* (४। १०) *'अहोभाग्य मम अमित अति राम कृपासुखपुंज। देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेब्य जुगल पद कंज॥'* (५। ४७) *'अब*

* रा० प०—'अवसहिं'=जो वशमें होनेवाला नहीं अर्थात् मनको। २ पांडेजी='अवस'=जो किसीके वश नहीं=राम। पाठमें 'व' है। अवस=अवश्य।

कुसल पद पंकज बिलोकि बिरंचि संकर सेब्य जे।' (६। १२०) *'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी॥'* (७। ७५। ६) (प० प० प्र०)

टिप्पणी—२ ***'श्रीसहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन'****····* ' इति। पूर्व केवल श्रीरघुनाथजीके दर्शनसे सुख पाना लिखा, इसलिये अब तीनोंको कहते हैं।—[यहाँ सहित और समेत दो शब्द आये हैं। ऐसा ही प्रयोग और भी स्थानोंमें हुआ है, यथा—*'तेहि अवसर नारद सहित अरु रिषिसम समेत। समाचार सुनि तुहिनगिरि गवने तुरत निकेत॥'* (१। ९७) यहाँ *'श्रीसहित'* में यह भी भाव है कि पूर्व जब मैंने देखा था तब वे स्त्रीसहित न थे और अब शक्तिसहित उनके दर्शन होंगे। इसके बाद साथ ही विचार उठा कि जो भाई उस समय साथ थे वह भी तो साथ हैं अतः फिर *'अनुज समेत'* पद दिया।]

टिप्पणी—३ *'निर्बानदायक क्रोध जाकर भगति अवसहि'····'* इति। क्रोध और भक्ति दोनोंसे अपनी भलाई ही है। क्रोध यों कि *'निज पानि सर'''*; मुझे अपने हाथोंसे बाण चलाकर मारेंगे, मैं मुक्त हो जाऊँगा। और भक्ति तो ऐसी सबल है कि उससे तो प्रभु अवश्य ही वश हो जाते हैं। यथा—*'रीझे बस होत खीझे देत निज धाम रे।'* (विनय) [*'अवसहि बस करी'* यथा—**'भाव बस्य भगवान'**, *'जातें बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥ 'मम गुन गावत''तात निरंतर बस मैं ताके।'*, **'प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्।'** (भा० ब्रह्मस्तुति, १०। १४) (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—४ *'बधिहि सुखसागर हरी '* इति। (१) सुखसागर हैं, वे मेरा वध करेंगे तो मैं उस सुखसागरमें प्राप्त हो जाऊँगा, ईश्वरमें मिलकर सुखसागर हो जाऊँगा, यथा—*'सरिताजल जलनिधि महँ जाई। होइ सुखी जिमि जिव हरि पाई॥'* [**'यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रे अस्तं गच्छति नामरूपे विहाय।'** (श्रुति), **'सरिता इवार्णवे मधुनि लिल्युः'** (वेदस्तुति भा० १०। ८७। ३१)—(प० प० प्र०)] (२) दर्शनसे सुखकी प्राप्ति कही *'निज परमप्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं'* और वधसे सुखका सागर होना कहा। तात्पर्य कि जब जुदा रहा तब सुख पाना कहा, जब निर्वाणपदकी प्राप्ति हुई तब वही हो गया। [यह अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार भाव है। भक्तिमार्गका भाव है कि आनन्दसिंधु श्रीरामजीके हाथोंसे वध होनेसे मैं सुखसागर हरिको प्राप्त हो जाऊँगा जिससे फिर आवागमन न होगा। यथा—*'प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ'* निर्वाणमुक्तिमें प्रभुके साधर्म्यगुणोंके द्वारा सुखसागर हो जाना इस प्रकार है जैसे मलयागिरिके चन्दनके साधर्म्य (गन्धगुण-प्राधान्य) से कङ्कोल, निंब, कुटज आदि कड़वे वृक्षोंकी लकड़ी भी चन्दन ही कही जाती है। (सि० ति०)] दर्शन और वध दोनोंमें आनन्द कहा। (३) *'हरी'* का भाव कि *'भक्तानां क्लेशं हरतीति हरिः'*, जन्म-मरणके क्लेशको छुड़ा देंगे, अतः हरि कहा।

दो०—मम पाछे धर धावत धरे सरासन बान।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहौं धन्य न मो सम आन॥ २६॥

अर्थ—धनुष-बाण धारण किये हुए मेरे पीछे मुझे पकड़नेको दौड़ते हुए प्रभुको मैं पीछे फिर-फिरकर देखूँगा—मेरी तरह धन्य दूसरा कोई नहीं है।

टिप्पणी—१ **'धर धावत'**=धरने (पकड़ने) को धावते; यथा—*'कपट कुरंग संग धर धाए'*। जब नहीं पकड़ मिलेगा तब मारेंगे, इसीसे *'धरे सरासन बान'* धायँगे। यथा—*'कपट कुरंग कनकमनिमय लखि प्रिय सो कहति हँसि बाला। पाये पालिबे जोग मंजु मृग मारेहुँ मंजुल छाला॥'* (गीतावली ३। ३) [प्र०-वा, *'धर धावत'* =पीछा पकड़े हुए दौड़ते जैसा शिकारियोंकी रीति है।]

टिप्पणी—२ *'फिरि फिरि प्रभुहि'····'* इति। (क) दर्शनका उत्साह भारी है अतएव ग्रन्थकार भी बारंबार उसका उत्साह लेखनीद्वारा कह रहे हैं—(१) *'आजु देखिहौं परम सनेही।'* (२) *'निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं'* और (३) *'फिरि फिरि'''*। (ख) *'धन्य न मो सम आन'* इति। *धन्य*=सुकृती, यथा—'सुकृती पुण्यवान् धन्यः'। सुकृतसे भगवान्‌का दर्शन मिलता है; यथा—*'जिन्ह जानकी राम छबि देखी।*

को सुकृती हम सरिस बिसेषी॥' (१। ३१०। ५) भाव कि शिवादि प्रभुके पीछे धावते हैं (अर्थात् प्राप्तिके लिये उनका ध्यान करते हैं पर दर्शन नहीं पाते) और प्रभु मेरे पीछे धावेंगे अत: मेरा भाग्य उनसे भी बड़ा है। ***'फिरि फिरि'*** का भाव कि इनका दर्शन योगियोंको एक बार भी दुर्लभ है और मुझे बारंबार दर्शन होंगे अत: मेरे समान वे भी भाग्यशाली नहीं। [श्रीरामजीको पकड़नेके लिये कौसल्याजीको दौड़ना पड़ता था, यथा—***'निगम नेति सिव अंत न पावा। मायामृग पाछे सो धावा॥'*** ***'निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा',*** पर वही श्रीराम मुझको पकड़नेके लिये स्वयं दौड़ेंगे। (प० प० प्र०)]

'पुनि माया-सीता कर हरना'—प्रकरण

तेहि बन निकट दसानन गएऊ। तब मारीच कपट मृग भएऊ॥ १॥
अति बिचित्र कछु बरनि न जाई। कनक देह मनि रचित बनाई॥ २॥
सीता परम रुचिर मृग देखा। अंग अंग सुमनोहर बेषा॥ ३॥

अर्थ—जब रावण उस वनके निकट गया तब मारीच कपटमृग बन गया॥ १॥ वह अत्यन्त विलक्षण है, कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। उसने मणियोंसे जटित सोनेकी देह बनायी है॥ २॥ श्रीसीताजीने परम सुन्दर हिरन देखा। उसके अङ्ग-अङ्गका वेष अत्यन्त मनको हरनेवाला था॥ ३॥

टिप्पणी—१ ***'तेहि बन निकट दसानन गएऊ''''*** इति। (क) ***'पंचबटी बसि श्रीरघुनायक। करत चरित सुर मुनि सुखदायक'*** और ***'तेहि बन निकट दसानन गएऊ'*** का सम्बन्ध है। (इसी प्रकार ***'होहु कपटमृग तुम्ह छलकारी'*** का और ***'तब मारीच कपट मृग भएऊ'*** का सम्बन्ध है। [वाल्मीकिजी लिखते हैं कि रावणने मारीचको अपने रथपर बिठा लिया। पर्वतों, नदियों, देशों और नगरोंको देखते हुए वे दोनों दण्डकारण्यमें पहुँचे और वहाँ जब श्रीरामचन्द्रजीका आश्रम देख पड़ा तब अपने रथसे उतरकर और मारीचका हाथ पकड़कर रावणने उससे कहा कि यही केलोंसे घिरा हुआ वह आश्रम है, अब शीघ्र वह कार्य करो जिसके लिये हमलोग यहाँ आये हैं। यथा—'**ततो रावणमारीचौ विमानमिव तं रथम्।**' (३। ४२। ९) **आरुह्याययतुः शीघ्रं तस्मादाश्रममण्डलात्।'''समेत्य दण्डकारण्यं राघवस्याश्रमं ततः।**' (१०। १०) '**ददर्श सहमारीचो रावणो राक्षसाधिपः'''।**'—यह सब भाव ***'बन निकट दसानन गएऊ'*** से जना दिये। इससे यह भी जनाया कि पंचवटी मारीचाश्रमसे बहुत दूर थी।] (ख) मृग ही बना क्योंकि इसका चर्म कामका होता है, शूकरादि मृगों (पशुओं) का चर्म कामका नहीं, दूसरे सुन्दर नहीं होता। मृगको देखकर श्रीसीताजी रामचन्द्रजीको प्रेरित करेंगी। पुनः, सिंह शूकरादि निकट नहीं जा सकते उनसे भय होता है, अत: मृग बना। [अथवा, मारीच जितना सुन्दर हिरन बन सकता था इतना सुन्दर और किसी पशुका रूप नहीं बना सकता था। इसीसे प्राय: वह तीक्ष्ण सींगोंवाला हिरण ही बना करता था और उनसे तपस्वी महात्माओंको मारकर उन्हें खाया करता था और उसी रूपसे वह श्रीरामजीसे अपना पुराना वैर निकालनेके लिये दण्डकारण्यमें एक बार पूर्व भी उनके समीप गया था, जैसा (वाल्मी० ३। ३९) से स्पष्ट है। यथा—'**सहितो मृगरूपाभ्यां प्रविष्टो दण्डकावनम्॥ २॥ दीप्तजिह्वो महादंष्ट्रस्तीक्ष्णशृङ्गो महाबलः। व्यचरन्दण्डकारण्यं मांसभक्षो महामृगः॥ ३॥ ''''पूर्ववैरमनुस्मरन्॥ ९॥ अभ्यधावन् सुसंक्रुद्धस्तीक्ष्णशृङ्गो मृगाकृतिः।**' सम्भवत: इसीसे रावणने इसे मृग बननेको कहा। (मा० सं०) (ग) रावणकी आज्ञा थी कि ***'होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी।'*** अत: मारीचने तुरन्त कपटमृग रूप धारण करके उसे दिखा दिया कि देख लीजिये यह मृगरूप छल करनेयोग्य है या नहीं। यहाँ रावणकी आज्ञाका अर्धपालन हो गया, शेष पालन अब आगे पूरा कर देगा। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ ***'अति बिचित्र कछु बरनि न जाई'*** अर्थात् विचित्र होता तो कुछ कहते भी, पर यह तो ***'अति बिचित्र'*** है, अत: कुछ कहा नहीं जाता। इतना ही कहते हैं कि कनककी देह मणिरचित बनायी है और बनाव कुछ नहीं कहते बनता। मृग प्राय: स्वर्णवर्णके होते हैं, अत: स्वर्णकी देह बनायी। [***'कनकदेह मनिरचित'*** से मृगका अलौकिकत्व जना दिया। (प० प० प्र०)]

नोट—१ श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी बताते हैं कि महाराष्ट्रके पंचवटी इत्यादि विभागोंमें 'चितल' नामकी एक हिरणकी जाति होती है, जिसके मुख और पेटके सिवा शेष शरीरका वर्ण पीला होता है, और इस पीले वर्णमें चाँदीकेसे सफेद बिंदु सैकड़ों होते हैं। मुखका वर्ण विचित्र होता है और पेटका वर्ण नील-छटाका होता है। दूसरे मृगोंसे यह जाति देखनेमें सुन्दर होती है। अब भी कुछ लोग इस जातिको पालते हैं। ये मृग बहुत बड़े नहीं होते हैं।

टिप्पणी—३ *'सीता परम रुचिर मृग देखा'''* इति। (क) श्रीराम-लक्ष्मणजीने देखा पर वे बोले नहीं। वे जानते हैं; यथा—*'तब रघुपति जानत सब कारन।'* [वाल्मीकीय, अध्यात्म रा० और हनु० नाटकसे जान पड़ता है कि परम रुचिर मृगको श्रीजानकीजीने ही प्रथम देखा। तब उन्होंने श्रीरामजीसे कहा। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि मारीच कपटमृग बना हुआ श्रीसीताजीको लुभानेके लिये आश्रमके पास सुखपूर्वक विचरण करने लगा। उसी समय श्रीजानकीजी फूल चुनती हुई कर्णिकार, अशोक और आमके वृक्षके पास आयीं और वहाँ प्रथम-प्रथम इस अद्भुत मृगको देखकर उन्होंने पतिको और लक्ष्मणको पुकारा कि शीघ्र आइये, तब दोनों भाइयोंने आकर मृगको देखा। यथा—'**प्रलोभनार्थं वैदेह्या''''**।' (२१) '''''**रामाश्रमपदाभ्याशे विचचार यथासुखम्।** (२४) '''''''**तस्मिन्नेव ततः काले वैदेही शुभलोचना।**' (३०) '**कुसुमापचये व्यग्रा पादपानत्यवर्तत।** '''''''(सर्ग। ४२। ३१) **भर्तारमपि चक्रन्द लक्ष्मणं चैव सायुधम्।**' (सर्ग ४३। २) '**आहूयाहूय च पुनस्तं मृगं साधु वीक्षते। आगच्छागच्छ शीघ्रं वै आर्यपुत्र सहानुज॥**' (३) '**तावाहूतौ नरव्याघ्रौ वैदेह्या रामलक्ष्मणौ। वीक्षमाणौ तु तं देशं तदा ददृशतुर्मृगम्।**' (४)—इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि प्रथम वैदेहीजीने ही देखा। अ० रा० की माया-सीताने स्वयं श्रीरामजीके पास आकर उनसे कहा है कि इसे देखिये। यथा—'**मायासीता तदापश्यन्मृगं मायाविनिर्मितम्। हसन्ती राममभ्येत्य प्रोवाच विनयान्विता॥**' (५) '**पश्य राम मृगं चित्रं काननं रत्नभूषितम्।**' (सर्ग ७। ६) इससे भी दोनोंका साथ न होना सिद्ध होता है। हनुमन्नाटकका मत स्पष्ट नहीं है, पर वहाँ भी श्रीजानकीजीका एकाएकी मृगको देखना कहा है। यथा—'''''''''''**दशकण्ठोत्कण्ठितप्रेरितं द्राक्कनकभयकुरङ्गं जानकी संददर्श।**' (३। २५) पं० रामकुमारजीने जो भाव लिखा है वह सम्भवत: हनु० ना० के '**सुललितफलमूलैस्तत्र कालं कियन्तं दशरथकुलदीपे सीतया लक्ष्मणेन। गमयति दशकण्ठोत्कण्ठित**'''''''''''।' (३। २५) और प्राय: उसीके अनुरूप जो गीतावलीमें कहा है यथा—*'**बैठे हैं राम लषन अरु सीता। पंचबटी बर पर्नकुटी तर कहैं कछु कथा पुनीता।**'* (१) *'**कपट कुरंग कनकमनिमय लखि प्रिय सों कहति हँसि बाला।**'* (३। ३) उसीके आधारपर कहा है। इन दोनों ग्रन्थोंके मतानुसार तीनों एक साथ बैठे थे, कथा हो रही थी। उसी समय मृग आया। श्रीरामजी कथा कहनेमें और लक्ष्मणजी सुननेमें मग्न होंगे। माया-सीताका चित्त माया-मृगकी ओर जाना उचित है। अत: प्रथम माया-सीताका ही देखना कहा। दूसरे प्रयोजन भी उन्हींके देखनेसे सिद्ध होना है; अत: उन्हींका देखना कहा गया।—इन आधारोंके अनुसार पण्डितजीका भाव भी संगत हो सकता है] (ख) मायाकी सीता, मायाका मृग। अत: मायाकी दृष्टिमें माया है, जहाँ मन जाता है वहीं हर जाता है। (खर्रा)

नोट—२ हनुमन्नाटक अङ्क ३ श्लोक० २६से मिलान कीजिये—'**देहं हेममयं हरिन्मणिमयं शृङ्गद्वयं वैद्रुमाश्चत्वारोऽपि खुरा रदच्छदयुगं माणिक्यकान्तिद्युति। नेत्रे नीलसुतारके सुविततं तद्वच्चलं प्रेक्षितं तत्तद्रत्नमयं किमत्र बहुना सर्वाङ्गरम्यो मृगः॥**' (२६) अर्थात् स्वर्णकी जिसकी देह है, हरित मणियोंकी सींगें हैं, मूँगेके चारों खुर हैं, स्वच्छ कान्तियुक्त एवं माणिक्यकी कान्तिके समान दाँत हैं, नीले सुन्दर पुतलियोंवाले नेत्र हैं उन्हींके अनुकूल जिनका चंचल अवलोकन है ऐसे-ऐसे रत्नोंसे युक्त देहवाला था। बहुत क्या कहा जाय? उसका सर्वाङ्ग शरीर रमणीय है।

वाल्मी० ४२, ४३ में इसके मनोहर वेषका वर्णन है— 'नीलमणिके समान सींगें, मुख कहीं सफेद, कहीं काला, मुख लालकमल और कान नीलकमल समान, गर्दन कुछ ऊँची, वैदूर्यमणिके समान खुर, चाँदीके सैकड़ों विन्दुओंसे चित्रित, पीठ लालकमलकेसर-सदृश, होंठ मुक्तामणिसे चित्रित, बाल चाँदीके,

सोनेके रोएँ, प्रौढ़ सूर्य्यके सदृश वर्ण, शङ्ख और मुक्ताकी कान्तिवाला पेट था। यथा—'**मणिप्रवरशृङ्गाग्रः सितासितमुखाकृतिः। रक्तपद्मोत्पलमुख इन्द्रनीलोत्पलश्रवाः॥ किंचिदत्युन्नतग्रीव इन्द्रनीलनिभोदरः। मधूकनिभपार्श्वश्च कंजकिंजल्कसंनिभः॥ वैदूर्यसंकाशखुरस्तनुजंघः सुसंहतः। इन्द्रायुधसवर्णेन पुच्छेनोर्ध्वं विराजितः॥ मनोहरस्निग्धवर्णो रत्नैर्नानाविधैर्वृतः। क्षणेन राक्षसो जातो मृगः परमशोभनः॥** (१६—१९) **रौप्यैर्बिन्दुशतैश्चित्रं भूत्वा च प्रियनन्दनः**......॥ (२२) **राजीवचित्रपृष्ठः स विरराज महामृगः**......॥ (२४) **मुक्तामणिविचित्राङ्गं ददर्श परमाङ्गना। तं वै रुचिरदन्तोष्ठं रूप्यधातुतनूरुहम्॥**' (३३) (वाल्मी० ३। ४२) इसीको यहाँ '*अति बिचित्र*', '*परम रुचिर*' और '*सुमनोहर*' तथा '*कनक देह मनिरचित*' से जनाया है।

'*सुमनोहर*'—सत्य ही इसने श्रीसीताजीका मन हर लिया था यथा—'**अहो रूपमहो लक्ष्मीः स्वरसंपच्च शोभना। मृगोऽद्भुतो विचित्राङ्गो हृदयं हरतीव मे**'—(वाल्मी० ४३। १५) अर्थात् अहा कैसा रूप है, कैसी श्री है, स्वर कैसा सुन्दर है, अद्भुत मृग है, विचित्र अङ्ग हैं, मेरे मनको हरे लेता है।

प० प० प्र०—श्रीरामजीका वर्णन करते हुए कविने उनको '*मनोहर*' और '*चित चोर*' कहा है। यथा—'*लोचन सुखद बिस्व चित चोरा॥*' (१। २१५) '*मूरति मधुर मनोहर देखी॥*' (१। २१५) '*स्यामल गौर मनोहर जोरी॥*' (१। २१९। ४) '*चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं॥*' (१। ३१९) '*गाथें महामनि मौरु मंजुल अंग सब चितचोरहीं*' (१। ३२७ छंद) पर इस कपट मृगके सम्बन्धमें लिखते हैं कि '*अंग-अंग सुमनोहर बेषा*', अर्थात् इसका प्रत्येक अङ्ग केवल 'मनोहर' ही नहीं है किन्तु सु (अत्यन्त) मनोहर है। 'सुमनोहर' विशेषणसे जनाया कि इसका वेष मनके अहंकारको चुरानेवाला है। हाथका निशान यहाँ कविकी सावधानता और समन्वय कलाको देखिये और दाद दीजिये। श्रीसीताजीका रूप ऐसा मनोहर था, कि '*देखी रूप मोहे नर नारी*' ऐसी रूपवतीको मोहित करनेके लिये अङ्ग-अङ्ग 'सु-मनोहर' होने ही चाहिये।

सुनहु देव रघुबीर कृपाला। येहि मृग कर अति सुंदर छाला॥ ४॥
सत्यसंध प्रभु बधि करि एही। आनहु चर्म कहति बैदेही॥ ५॥

अर्थ—बैदेहीजी बोलीं—हे देव! हे कृपाल रघुवीर! सुनिये, इस मृगका चर्म (खाल) बड़ा ही सुन्दर है। हे सत्यप्रतिज्ञ प्रभो! इसको मारकर इसकी खाल लाइये॥ ४-५॥

टिप्पणी—१ '*देव*' अर्थात् आप दिव्य हैं, जानते हैं कि राक्षस मृग बनकर आया है। आप रघुवीर हैं और वीरका धर्म है दुष्टका वध करना। आप कृपालु हैं, दुष्टोंको मारकर मुनियोंपर कृपा कीजिये, यह मुनिद्रोही है; यथा—'*लै सहाय धावा मुनिद्रोही।*' पुनः, मुझपर भी कृपा कीजिये, इसका चर्म ले आइये। पुनः इसपर भी कृपा कीजिये इसे मुक्ति दीजिये। पशुकी गति उसके हाथकी बात नहीं है, आपके हाथसे वध होनेसे ही यह मुक्त हो सकेगा। आप सत्यसंध हैं, निशाचर-वधकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उस प्रतिज्ञाको पूरी कीजिये। यदि कहें कि यह राक्षस है, इसका चर्म कैसे लावेंगे, उसपर कहती हैं कि आप 'प्रभु' (समर्थ) हैं, झूठको भी सत्य कर सकते हैं। प्रभुः=**कर्त्तुमकर्त्तुं समर्थः**। इसकी छाल '*अति सुंदर*' होगी क्योंकि यह '*अति बिचित्र*' है। (सत्यसंध, रघुबीर, कृपाला सबका चरितार्थ आगे दिखावेंगे।)

प० प० प्र०—१ '*सुनहु देव रघुबीर कृपाला*'। (क) '*सुनहु*'—भाव यह कि यद्यपि पतिको कुछ सुनाना हमारा धर्म नहीं है, तथापि मुझसे नहीं रहा जाता है, अतः सावधानीसे सुनिये। (ख) '*देव*' अर्थात् आप ही मेरे देव हैं—'*नारि धर्म पति देव न दूजा।*' मेरी माताने जो नारी-धर्म सिखाये उनमें इसे सबसे श्रेष्ठ बताया है। नारी-जातिको परिस्थिति वश कुछ इच्छा हो जाय तो भी पतिदेवसे कहना युक्त नहीं है (यथा—'**कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम्॥**' (वाल्मी० ३। ४३। २१) तथापि इस जङ्गलमें न तो माताजी हैं न सासुजी और न कोई परिचारक, तब किससे माँगा जाय? आपको छोड़कर मैं किससे याचना करूँ? इससे आज कुछ याचना करनी है। (ग) '*रघुबीर*' का भाव कि मैं जो कुछ माँगूँगी उसको प्राप्त कर देना आप-जैसे रघुवंशीय वीरश्रेष्ठको सहज है। मैं तो आकाश-कुसुमोंकी अथवा कल्प-कुसुमोंकी माला नहीं माँगती हूँ। (घ) '*कृपाला*' का भाव कि आप तो इतने कृपालु हैं कि भरत-माताकी विश्वदुःखदायक

और भयानक इच्छा भी आपने पूरी कर दी, इतना ही नहीं किंतु विश्वामित्रजी, अहल्याजी और बहुत क्या कहा जाय केवटकी दुर्लभ इच्छा भी आपने पूरी कर दी, तब मेरी इतनी-सी सहज सुलभ कामना आप कृपा करके क्यों न पूरी करेंगे।

पं० रामकुमारजीने जो भाव (टिप्पणीमें) कहे हैं वे सुसंगत नहीं हैं, कारण कि 'यह राक्षस है' ऐसा जान लेनेपर सीताजीका कहना कि 'इस मृगको या मृगचर्म ले आइये' सिद्ध करेगा कि श्रीसीताजी जान-बूझकर मृगरूपी राक्षसको पालना चाहती थीं। [वाल्मीकीय तथा गीतावलीकी सीताने इस हिरनको पकड़ लाने और यदि जीता न पकड़ा जा सके तो उसका मृगचर्म लानेको कहा है। यथा—**'यदि ग्रहणमभ्येति जीनन्नेव मृगस्तव।'''''जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तमः। अजिनं नरशार्दूल रुचिरं तु भविष्यति॥'** (वाल्मी० ३। ४३। १६,१९) *'पाए पालिबे जोग मंजु मृग, मारेहु मंजुल छाला॥'* (गी० ३। ३) और अध्यात्मरामायणमें केवल बाँधकर लानेकी बात कही है, वधकी नहीं यथा—**'बद्ध्वा देहि मम क्रीडामृगो भवतु सुन्दरः॥'** (३७। ६) पर मानसकी सीता उस मृगको पकड़ लानेको नहीं कह रही हैं, प्रत्युत उसका वध करके उसके *'अति सुंदर'* चर्मको लानेको कह रही हैं। अतः मेरी समझमें पं० रामकुमारजीके भावमें कोई असंगति नहीं है।]

टिप्पणी—२ *'सत्यसंध प्रभु बधि करि एही''''''''बैदेही।'* (क) ***सत्यसंध*** =सत्य प्रतिज्ञा। इस शब्दका सुसंगत भाव ध्यानमें न आनेसे ऊपरके जैसे भाव निकले। यहाँ निशाचरवधकी प्रतिज्ञा अभिप्रेत नहीं है, बल्कि विवाहके समय **'धर्मे च अर्थे च कामे च नातिचरामि'** यह प्रतिज्ञा सूचित है। प्रभुका भाव कि मैं जो वस्तु चाहती हूँ उसका प्राप्त करना आपके सामर्थ्यके बाहर नहीं है। ***'बैदेही'***—यहाँ ***'बैदेही'*** शब्द रखकर ध्वनितार्थ प्रकट करनेका कविका कमाल है! विदेहकी कन्या, बापसे बेटी सवाई, विषयवासना जिनके चित्तको छू भी नहीं सकती, ऐसी होनेपर भी ***'हरि इच्छा'*** (भावी बलवाना) क्या और कैसा कर देती है देखिये। इस भावकी पुष्टि आगे *'मर्म बचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित'* से होती है।

तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुर काजु सवारन॥ ६॥
मृग बिलोकि कटि परिकर बाँधा। करतल चाप रुचिर सर साँधा॥ ७॥

शब्दार्थ—**परिकर**=कटिबंधन, कमरका फेंटा। **साँधना**=तीरको धनुषपर लगाकर निशाना साधना, लक्ष्य करना।=बाणको धनुषमें लगाना।

अर्थ—तब रघुनाथजी, जो सब कारण जानते हैं, देवकार्य सँवारनेके लिये उत्साह और प्रसन्नतापूर्वक उठे॥ ६॥ मृगको देखकर कमरको वस्त्रसे बाँधा, और हाथमें सुन्दर धनुष (लेकर उस) पर सुन्दर बाण चढ़ाया॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'तब रघुपति''''* ' इति। [(क) *'रघुपति'* का भाव कि रघुश्रेष्ठको रघुवंशीय पतिव्रताकी सहज साध्य इच्छाको पूर्ण करना कर्तव्य है। (प० प० प्र०)] (ख) *'जानत सब कारन।'* प्रभु सब जानते हैं कि यह मारीच है और इसके साथ रावण भी आया है; यथा—*'जद्यपि प्रभु जानत सब कारन', 'राजनीति राखत सुरत्राता।'* पुनः यथा—*'सो माया रघुबीरहिं बाँची। लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची।'* [वाल्मीकि और अध्यात्ममें लक्ष्मणजीने स्पष्ट कहा है कि यह मारीच है। स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि श्रीरामजीने यह जान लिया कि मेरी दैवी मायाकी प्रेरणावश होकर ही वैदेही स्वभावविरुद्ध बिनती करती हैं।] (ग) *'उठे हरषि सुर काजु सँवारन'* अर्थात् यदि देवकार्य न सँवारना होता तो वहींसे मार देते जैसे जयन्तको। पर बिना यहाँसे उठकर दूर गये न तो रावण आवेगा, न सीताहरण होगा, न उसका वध होगा और न दैवकार्य होगा।

प० प० प्र०—(शंका) श्रीरामजी तो 'हर्ष बिषाद रहित' हैं, तब यहाँ स्वभाव-विरुद्ध कैसे हुआ? (समाधान) मानसके श्रीरामजी केवल दो कारणोंसे हर्षयुक्त होते हैं, एक तो जब भक्तका अनन्य प्रेम देखते हैं, अथवा जब वे स्वयं भक्तपर परम अनुग्रह करना चाहते हैं। यथा—*'बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि। माँगहु बर जोइ भाव मन''।'* (१। १४८) (मनुप्रसङ्ग), *'परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर माँगहु देउँ सो तोही॥'* (३। ११। २३) (सुतीक्ष्णजीसे), *'पुनि हनुमान हरषि हिय लाए।'* (५। ३०)

'अस कहि करत दंडवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा।'''भुज बिसाल गति हृदय लगावा॥' (५। ३०) (विभीषण प्र०)। यहाँ *'हरष'* का अर्थ आनन्द और उत्साह भी है। दूसरे, जब सुरकार्य अथवा महत्त्वका अवतार-कार्य करनेको निकलते हैं तब भी हर्ष होता है, पर ऐसे अवसरोंपर 'हर्ष' का अर्थ 'उत्साह' होता है। ऐसे स्थानोंमें 'आनन्द' अर्थ लेनेसे विसंगति दोष उत्पन्न हो जायगा। कारण कि जिसको महत्त्वके कार्यके लिये निकलते समय प्रयत्नके आरम्भमें हर्ष आनन्द होगा उसे कार्यकी सिद्धि होनेपर तो विशेष आनन्द होता है, तथापि श्रीरामजीको जहाँ कार्यारम्भमें हर्ष हुआ है वहाँ कार्यकी सफलतामें एक भी स्थानमें हर्षका उल्लेख नहीं मिलता है। कार्यारम्भमें उत्साह कार्यसिद्धिका दर्शक होता है।

कार्य करनेमें प्रभाव-शक्ति, उत्साह-शक्ति और मन्त्र-शक्ति, इन तीनों शक्तियोंकी आवश्यकता होती है। **'प्रभावोत्साहमन्त्रजाः शक्तयः'** (अमरकोश)। कार्य सफल होनेपर उत्साह नहीं रहता है। उत्साह और आनन्द भिन्न हैं—*'राम बिबाह उछाहु अनंदू।'* वाल्मी० में श्रीरामजीको विरह-विलाप करते-करते सकोप, तथापि निरुत्साह देखकर लखनलालजी कहते हैं कि **'उत्साहोबलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम्। सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुर्लभम्॥' 'उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु। उत्साहमात्रमाश्रित्य प्रतिलप्स्याम जानकीम्॥'** (वाल्मी०४। १। १२१-२२)* अवतारकार्यके आरम्भमें श्रीरामजीको कहाँ-कहाँ हर्ष हुआ है, यह देखिये (१) *'हरषि चले मुनि भय हरन।'* (१। २०८) यहाँ मुनि भय-हरणके लिये हर्ष (आनन्द) है और अवतारकार्यका प्रारम्भ करनेमें हर्ष (उत्साह) है। मारीचको रामाकार मन करके भगाकार भावीकार्यके लिये रखना यह अवतारकार्य है, तथापि मुनिमखरक्षण सिद्ध होनेपर हर्ष नहीं हुआ है। (२) *'हरषि चले मुनि बृंद सहाया।'* (१। २१२। ४) अवतारके नाटकके मुख्यपात्र श्रीसीताजीकी प्राप्ति करना है, अतः उत्साह है। धनुर्भंग होनेपर अथवा जयमाला पहनायी जानेपर अथवा विवाह-समाप्तिमें हर्ष नहीं हुआ है। (३) वन-गमनके समय प्रसन्नता और उत्साह दोनोंका उल्लेख है, यथा—*'मुख प्रसन्नचित चौगुन चाऊ।'* प्रसन्नता इसलिये कि भक्तोंपर अनुग्रह करनेको मिलेगा और चाव (उत्साह-हर्ष) इसलिये कि अवतारकार्य (रावणादि-वध) के लिये प्रयाण करते हैं। (४) *'हरषि चले कुंभज रिषि पासा'*—अवतार-कार्य-सिद्धिके लिये कुम्भज-जैसे प्रतापशील ऋषिश्रेष्ठसे *(अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही॥'* (१३। ३) मंत्र प्राप्त करना है, इससे प्रयाण-समय उत्साह है। (५) *'हरषि राम तब कीन्ह पयाना।'* (५। ३५। ४) रावणवधके लिये किष्किन्धासे प्रयाण करते समय हर्ष अर्थात् उत्साह है। (६) जब कार्य करनेको प्रयाण करते समय हर्ष (उत्साह) होता है तब वह कार्यसिद्धि, सफलता सूचित करता है, यथा—*'होइहि काजु मोहि हरष बिसेखी।'* (५। १) इत्यादि।

टिप्पणी—२ *'मृग बिलोकि'''रुचिर सर साँधा।'* [(क) *'कटि परिकर बाँधा'* क्योंकि वे जानते हैं कि इसके लिये दूरतक दौड़े जाना होगा, तभी रावणकी मनोकामना और देवकार्य सिद्ध होगा। (ख) *'चाप'*—भगवान्‌का धनुष तीन स्थानोंपर नवा हुआ था, उसको लेनेपर वे अधिक सुशोभित हो गये। यथा—**'अस्यामायत्तमस्माकं यत्कृत्यं रघुनन्दन।'** (वाल्मी० ४३। ४७)] (ग) मृग परम रुचिर है, यथा—*'सीता परम रुचिर मृग देखा',* अतः *'रुचिर'* मृगके लिये *'रुचिर सर'* का अनुसन्धान किया जिसमें माया-शरीर वेधकर सत्य-शरीरको भी वेध दे।

☞ देखिये श्रीरामजीके लिये मृग भी आता है तो वह भी परम रुचिर बनकर (जैसे पूर्व शूर्पणखा *'रुचिर रूप'* धरकर आयी थी) और प्रभु मारने चले सो भी *'रुचिर सर'* से। मानो राक्षस जानते थे कि *'रुचिर'* श्रीरामजीको अत्यन्त प्रिय है। विशेष १७ (७) में देखिये। आगे लङ्काकाण्डमें प्रभुके काममें मृगचर्म आवेगा तब वहाँपर उसे भी *'रुचिर'* दिखाया है; यथा-*'तापर रुचिर मृदुल मृग-छाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥'* (६। ११। ४)

प० प० प्र०—*'करतल चाप रुचिर सर साँधा।'* *'रुचिर'* शब्द करतल, चाप और शर तीनोंके साथ

---

* ये श्लोक सर्ग ६६ में नहीं हैं। सर्ग ६३ में इस प्रकारका श्लोक यह है—'शोकं विसृज्याद्य धृतिं भजस्व सोत्साहता चास्तु विमार्गणेऽस्याः। उत्साहवन्तो हि नरा न लोके सीदन्ति कर्मस्व तिदुष्करेषु॥' (१९)

लेना उचित है। कारण कि श्रीरामजी परम मनोहर, श्रीसीताजी भी परम रुचिर, पञ्चवटी परम मनोहर, (यथा—*'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचवटी तेहि नाऊँ॥'*) कपटमृग परम रुचिर, शूर्पणखा भी रुचिर तब केवल रुचिर शर कहनेसे कैसे सुसंगत होगा? धनुष भी रुचिर ही चाहिये।

प्रभु लछिमनहि कहा समुझाई। फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई॥ ८॥
सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी॥ ९॥

अर्थ—प्रभुने लक्ष्मणजीसे समझाकर कहा—हे भाई! वनमें बहुत-से निशाचर फिरते हैं॥ ८॥ तुम बुद्धि, विवेक, बल और समयका विचार करके सीताकी रखवाली करना॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) *'कहा समुझाई'* इति। क्या समझाया यह कवि स्वयं कहते हैं—*'फिरत''*। (ख) *'बुधि बिबेक बल समय बिचारी'* का भाव कि समय विचारकर बुद्धि, विवेक और बलसे काम लिया जाय तो कोई कार्य संसारमें कठिन नहीं सब सुलभ हो जाते हैं। जैसे—*'पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥'* यह कहकर तब कहा है *'कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं॥'* (४। ३०) भाव कि जैसा मौका, स्थिति, प्रयोजन आ पड़े वैसा विचार कर करना।

नोट—१ *'समय'* यह कि रावणसे वैर कर चुके हैं। छलरूपसे कोई आवे तो बुद्धि-विवेकसे विचार कर लेना, सहसा विश्वास न कर लेना। सामना करे तब बलसे काम लेना। (वै०) पुनः भाव कि बुद्धिसे विचारना विवेकसे सोच-समझ लेना, बल अनुमान कर काम करना। इनका चरितार्थ आगे दिखावेंगे। (पं० रा० व० श०)

प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी। धाए रामु सरासन साजी॥ १०॥
निगम नेति सिव ध्यान न पावा। माया मृग पाछे सो* धावा॥ ११॥

अर्थ—प्रभुको देखकर मृग भाग चला। श्रीरामचन्द्रजीने धनुष सजा (चिल्ला चढ़ा) कर उसका पीछा किया॥ १०॥ वेद जिसको 'नेति' कहते हैं, और शिवजी भी जिन्हें ध्यानमें नहीं पाते, वही प्रभु मायामृगके पीछे दौड़े॥ ११॥

टिप्पणी—१ (क) *'प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी।''* इति। दोनोंने परस्पर एक-दूसरेको देख लिया। यथा—*'मृग बिलोकि परिकर कटि बाँधा'* और यहाँ *'प्रभु बिलोकि''*। और जो पूर्व कहा था कि मारीचका निश्चय था कि *'फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहौं'* उसको यहाँ चरितार्थ किया। अर्थात् इससे यह भी जनाया कि वह बारम्बार प्रभुको फिर-फिरकर देखता है और भागता जाता है। (हनु० ना० ४। ३) में भी ऐसा ही कहा है। यथा—**'ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः।'** (गी० ३। ३) में भी ऐसा ही है, यथा—***'चल्यौ भाजि फिरि फिरि चितवत मुनिमख रखवारे चीन्हें। सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे॥ धावनि नवनि बिलोकनि बिथकनि बसै तुलसि उर आछे।'*** (ख) बाण पहले ही धनुषपर जो लगाया था वह (लक्ष्मणजीको) समझानेके समय उतार लिया था, इसीसे अब फिर कहा कि *'धाए राम सरासन साजी'* [*'करतल चाप रुचिर सर साँधा'* से उपक्रम किया और *'धाए साजी'* से उपसंहार कर दिया। (प० प० प्र०)] (ग) जिसको वेद और शिव नहीं पाते वे मृगको नहीं पकड़ पाते, यह माधुर्य-लीलाकी शोभा है। यह लालित्य दिखाया जो *'करबि ललित नर लीला'* में कहा था।

टिप्पणी—२ वेद 'वाणी' रूप हैं। *'निगम नेति'* अर्थात् जहाँ वेदरूपी वाणी नहीं पहुँच सकती। शिवजी ध्यानमें नहीं पाते। ध्यान मनसे होता है, यथा—*'मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहर कीन्ह।'* (१। १११) अतः *'सिव ध्यान न पावा'* का भाव कि जहाँ शिवजीका मन नहीं पहुँच पाता। **'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह॥'** (तैत्ति० २। ४) *'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥'* (१। ३४१। ७) का जो भाव है वही सब भाव यहाँ सूचित किया। [*'निगम नेति''मायामृग पाछे सो धावा।'* यह आश्चर्य है। तथापि यह आश्चर्य भक्तजनोंका उद्धार करनेके लिये, लीलाचरित्र निर्माण करनेके लिये ही करते हैं, नहीं तो *'भृकुटि बिलास जासु लय होई'* ऐसे रामजीको रावण और निशाचर-

* सोई—१७२१, १७६२। सो—छ०, भा० दा०, १७०४, को० रा०।

वध करनेके लिये ऐसी अघटित घटना करनेकी दूसरी आवश्यकता ही क्या? (प० प० प्र०) *'भागा'* क्योंकि रावणका कार्य निकट मरनेसे न होगा। (प्र०)]

नोट—१ इसमें यह भी भाव है कि जगत्‌मात्रको मोहित करनेवाली माया जिनके वशमें है, नटीकी तरह जिनके इशारेपर नाचती रहती है, जो निर्विकार, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सच्चिदानन्दघन हैं, वे उस माया-मृगके पीछे दौड़े, यह क्यों? यह इसलिये कि रावणका सीताहरण करनेका मनोरथ, मारीचका 'फिरि-फिरि' कर अपने पीछे दौड़ते हुए प्रभुको बारम्बार देखनेका मनोरथ, श्रीसीताजीका मृगचर्मका मनोरथ और देवकार्य सिद्ध हो। अ० रा० में कहा है कि इससे यह वाक्य सर्वथा सत्य है कि भगवान् हरि बड़े भक्तवत्सल हैं। वे सब कुछ जानते थे तथापि श्रीसीताजीको प्रसन्न करनेके लिये वे मृगके पीछे गये। यथा—**'इत्युक्त्वा प्रययौ रामो मायामृगमनुद्रुतः। माया यदाश्रया लोकमोहिनी जगदाकृतिः॥' 'निर्विकारश्चिदात्मापि पूर्णोऽपि मृगमन्वगात्। भक्तानुकम्पी भगवानिति सत्यं वचो हरिः॥ कर्त्तुं सीताप्रियार्थाय जानन्नपि मृगं ययौ।'** (अ० रा० ३। ७। १२—१४) यह सब भाव इन दो चरणोंसे सूचितकर दिया है। गीतावलीमें भी कहा है-*'प्रिया बचन सुनि बिहँसि प्रेम बस गवहिं चाप सर लीन्हे।'* (३। ३) *'प्रिया प्रीति प्रेरित बन बीथिन्ह बिचरत कपट कनक मृग संग।'* (३। ४)

कबहुँ निकट पुनि दूरि पराई। कबहुँक प्रगटै कबहुँ छपाई॥ १२॥
प्रगटत दुरत करत छल भूरी। येहि बिधि प्रभुहि गयौ लै दूरी॥ १३॥
तब तकि राम कठिन सर मारा। धरनि परेउ करि घोर पुकारा॥ १४॥

शब्दार्थ—**पुकार**=शब्द, चीत्कार। **दुरत**=छिपता हुआ। **भूरी**=बहुत। **पुकार**=शब्द, गर्जन।

अर्थ—वह कभी पास आ जाता है और फिर दूर भाग जाता है कभी तो प्रकट होता है और कभी छिप जाता है॥ १२॥ इस प्रकार प्रकट होते, छिपते तथा बहुत छल करते हुए वह प्रभुको दूर ले गया॥ १३॥ तब श्रीरामजीने निशाना साधकर कठिन बाण मारा। (जिससे) वह घोर (भयङ्कर) शब्द करता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ १४॥

टिप्पणी—१ *'कबहुँ निकट पुनि दूरि पराई',* यह काम शरीरसे कर रहा है और *'कबहुँक प्रगटै कबहुँ छपाई'* यह काम मायासे करता है। निकट आ जाता है, प्रकट हो जाता है जिसमें निराश होकर लौट न जायँ और दूर भाग जाता है एवं छिप जाता है। जिसमें कहीं अभी मार न लें। रावणने जो कहा था कि *'होहु कपटमृग तुम्ह छलकारी'* उस 'छलकारी' शब्दको यहाँ चरितार्थ कर रहा है।

नोट—१ हनु० ना० अङ्क ४ में *'कबहुँ निकट.........छल भूरी'* का बड़ा सुन्दर वर्णन है। यथा—**'आन्दोलयन्विशिखमेककरेण सार्धं कोदण्डकाण्डमपरेण करेण धुन्वन्। सन्नह्य पुष्पलतया पटलं जटानां रामो मृगं मृगयते वनवीथिकासु॥ हस्ताभ्यासमुपैति लेढि च तृणं न स्पृश्यता गाहते गुल्मान्प्राप्य विवर्तते किसलयानाघ्राय चाघ्राय च। भूयस्त्रस्यति पश्यति प्रतिदिशं कण्डूयते स्वां तनुं दूरं धावति तिष्ठति प्रचलति प्रान्तेषु मायामृगः॥** (१-२) अर्थात् एक हाथसे बाण चलाते हुए और दूसरे हाथसे धनुषके (धुन्ध) बड़े शब्दको करते हुए, पुष्पोंकी लतासे जटाजूटको बाँधकर महाराज रामचन्द्रजी वनकी गलियोंमें मृगको ढूँढ़ने लगे। वह मायामृग कभी तो भागता-भागता हाथोंसे ही ग्रहण करने योग्य होकर तृणोंको चाटता है, कभी घासको छूतातक नहीं, कभी लतागुच्छोंको पाकर नवीन पत्तोंकी सुगन्धिको सूँघकर लौटने लगता है, फिर बारम्बार चारों दिशाओंको देखने लगता है, कभी खड़ा हो जाता है और कभी इधर-उधरको चलने लगता है। पुनश्च यथा—**'ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्। दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा पश्योद्दिग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥'** (हनु० ४। ३) अर्थात् (श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं) यह मृग बार-बार मनोहर ग्रीवाको फेरकर पीछेकी ओर देखता है और चलनेमें दृष्टिको लगाकर बाण लगनेके भयसे अपने पिछले शरीरको शीघ्रतासे सिरमें सिकोड़कर कर लेता है। आधे खाये हुए तथा श्रमसे थकित हो जानेके कारण खुले हुए मुखमें गिरते हुए तृणोंसे मार्गको व्याप्त करनेवाला मृग घबड़ाकर आकाशमें बहुत और पृथ्वीमें थोड़ा-थोड़ा

चलता है, अर्थात् इतना उछल-कूदकर आकाशमें भागता है कि पृथ्वीमें इसका चरण कम पड़ता है। वाल्मी० (३। ४४। ३—१२) में भी इसका विस्तृत उल्लेख है।'

टिप्पणी—२ *'येहि बिधि प्रभुहि गयौ लै दूरी'* अर्थात् अब श्रीरामजी समझ गये कि रावणका कार्य अच्छी तरहसे हो सकता है, तब उन्होंने ताककर कठिन बाण मारा। *'कठिन सर'* अर्थात् जिससे बच न सके। (इसीको हनुमन्नाटकमें **'दिव्य बाण'** लिखा है)। बाण लगनेपर चिंग्घाड़ करना था सो न करके उसके बदले उसने लक्ष्मणजीका नाम लेकर पुकारा जिसमें लक्ष्मणजी आवें। ऋषियोंका इसमें मतभेद है कि कितनी दूर ले गया, अतएव केवल *'दूरी'* पद देकर सबके मतकी रक्षा की गयी है।

नोट—२ *'तब तकि राम कठिन सर मारा।'''''''''''''* इति। यह बाण सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशमान था। यह दीप्त अस्त्र ब्रह्माका बनाया हुआ था। सर्पके समान तथा जलता हुआ यह बाण वज्रके समान कठिन था। इस शरने उसके मृगरूपको छेदकर मारीचके राक्षसरूपके हृदयको भी वेध डाला। यह सब भाव 'कठिन' विशेषणके हैं। यथा—**'भूयस्तु शरमुद्धृत्य कुपितस्तत्र राघवः। सूर्यरश्मिप्रतीकाशं ज्वलन्तमरिमर्दनः॥ संधाय स दृढं चापे विकृष्य बलवद्बली। तमेव मृगमुद्दिश्य ज्वलन्तमिव पन्नगम्॥ मुमोच ज्वलितं दीप्तमस्त्रं ब्रह्मविनिर्मितम्। स भृशं मृगरूपस्य विनिर्भिद्य शरोत्तमः॥ मारीचस्यैव हृदयं विभेदाशनिसंनिभः।'** (वाल्मी० ३। ४४। १३—१६)

नोट—३ *'धरनि परेउ करि घोर पुकारा।'* यह कठिन शरका प्रभाव कहा। यथा—**'व्यनदद्भैरवं नादं धरण्यामल्पजीवितः।** (वाल्मी० ४४। १७) वाल्मीकीयसे सिद्ध होता है कि बाण लगनेपर उसने घोर गर्जन किया, वही यहाँ *'घोर पुकारा'* से जनाया गया है। इसके बाद उसने लक्ष्मणजीका नाम लिया। यही मानसके क्रमसे जनाया है।

लछिमन कर प्रथमहि लै नामा। पाछे सुमिरेसि मन महुँ रामा॥ १५॥
प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा॥ १६॥
अंतर प्रेमु तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥ १७॥

अर्थ—पहले लक्ष्मणजीका नाम लेकर पीछे (उसने) मनमें श्रीरामजीका स्मरण किया॥ १५॥ प्राण छोड़ते समय अपनी (राक्षसी) देह प्रकट की और प्रेमसहित श्रीरामजीका स्मरण किया॥ १६॥ सुजान प्रभुने उसके अन्त:करणके प्रेमको पहचानकर उसको मुनियोंकी भी दुर्लभ गति दी॥ १७॥

टिप्पणी—१ *'प्रभु लछिमनहि कहा समुझाई। फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई॥ सीता केरि करेहु रखवारी।'* अतएव पहले 'लक्ष्मण' नाम पुकारकर लिया, जिसमें वे भी वहाँ न रह जायँ, वहाँसे चले आवें, तब रावण जाकर कार्य साधे। 'राम' नाम मनमें धीरेसे लिया; यथा—*'लषन पुकारि राम हरुए कहि बैर सँभारेउ'* (गी० ३। ६) पुनः, यथा—*'सुकृत न सुकृती परिहरै कपट न कपटी नीच। मरत सिखावन सो दियो गीधराज मारीच॥'* (दोहावली) पुनः, छलके लिये लक्ष्मणका नाम लिया और मुक्तिके लिये रामनाम लिया—*'जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥'* (३। ३१। ६) [पुनः भाव कि लक्ष्मणजी आचार्य हैं, बिना आचार्यके प्रभुकी प्राप्ति नहीं। अतएव लक्ष्मणजीका नाम लेकर मानो उनकी शरण गया तब श्रीरामजीका स्मरण किया। (करु०, मा० म०, वै०)]

नोट—१ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि रावणके वचनका स्मरण करके राक्षस मारीचने सोचा कि किस उपायसे 'सीता' लक्ष्मणजीको भेजेंगी और रावण उनका हरण करेगा। उसने उसी समय निश्चय करके श्रीरामचन्द्रजीके समान स्वरमें 'हा सीते' 'हा लक्ष्मण' ऐसा जोरसे चिल्लाकर कहा। यथा—**'स्मृत्वा' तद्वचनं रक्षो दध्यौ केन तु लक्ष्मणम्। इह प्रस्थापयेत्सीता तां शून्ये रावणो हरेत्॥ १७॥ स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वनम्। सदृशं राघवस्येव हा सीते लक्ष्मणेति च॥ १९॥''''''''''''हा सीते लक्ष्मणेत्येवमाक्रुश्य तु महास्वनम्।'** (३। ४४। २४) (अ० रा० ३। ३। १८) में **'हा हतोऽस्मि महाबाहो त्राहि लक्ष्मण मां द्रुतम्।'** अर्थात्

हे महाबाहो लक्ष्मण! मैं मारा गया, मेरी शीघ्र ही रक्षा करो—ऐसा उसने मरते समय कहा।

टिप्पणी—२ *'प्रान तजत''राम समेत सनेहा'* इति। प्राण निकलनेके समय बेहोशी आ गयी, इसीसे निज देह प्रकट कर दी। [पर, बेहोशी आनेपर *'सुमिरेसि''''''सनेहा'* कैसे सम्भव था? यह भाव कुछ शिथिल-सा है और इसका प्रमाण भी हमें नहीं मिला] वा, अपने स्वामीका काम करके अब प्राणपयानके समय निज देह प्रकट की। छल छूट गया, लक्ष्मणजीका नाम छलके लिये लिया, अब उसे भी छोड़ा, अब केवल श्रीरामजीका स्मरण किया। [स्मरण रहे कि यहाँ दो बार श्रीरामका स्मरण करना कहा है। एक बार रावणका कार्य सँवार देनेके बाद, फिर दूसरी बार स्नेहसे। इसीसे दो बार कहा गया। श्रीरामस्मरण वाल्मीकीय, अ० रा० और हनुमन्नाटकमें नहीं है।]

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—*'प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा'*—(१) अपनी देह प्रकट करनेमें हेतु यह है कि कपट तो केवल रावणके कार्य-सम्पादनके लिये करना था, वह कार्य तो अब हो ही जायगा, अब भगवान्‌के सामने कपटका क्या काम? *'मोहि कपट छल छिद्र न भावा'* यह है भगवान्‌का स्वभाव! देखिये किष्किन्धामें जबतक हनुमान्‌जी अपना कपट-वेष नहीं त्यागते तबतक श्रीरामजी उनसे नहीं मिलते। (२) श्रीहनुमान्‌जी और श्रीलषनलालजीके हाथसे मरते समय कालनेमि और मेघनादका कपट भी न टिक सका, तब श्रीरामजीका बाण लगनेपर कपट-देह कैसे रह सकती? (३) भाव यह है कि मनमें रामजीका स्मरण करनेसे मारीचके कपट, छल इत्यादि सब दोषोंका दलन हो गया। (दोष-दलन करुणायतन) वह **'निर्मल मन'** हो गया। तब उसने फिरसे *'सुमिरेसि राम समेत सनेहा।'* निर्मल मनसे सप्रेम स्मरण करनेका फल *'मुनि दुर्लभ गति'* की प्राप्ति है। **'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥'** (गीता ८। ५) *'निर्मल मन जन सो मोहि पावा॥'*

टिप्पणी—३ तनसे इसने छल किया कि मायाका मृग बना। पुनः, वचनसे छल किया कि लक्ष्मणजीका नाम लेकर पुकारा। केवल मनसे शुद्ध है, मनमें प्रेम है, अतः *'अंतर प्रेम तासु पहिचाना'* यथा—*'रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरत सय बार हिये की॥'* (१। २९)

टिप्पणी—४ *'मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना।'* मनकी गति जानी, अतः सुजान कहा, यथा—*'राम सुजान जान जन जी की'*, *'स्वामि सुजान जान सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥'*

प० प० प्र०—*'अंतर प्रेम तासु पहिचाना।''''*' इति। (१) इससे यह सिद्ध होता है कि अन्तकालमें रामस्मरण करनेकी शक्ति श्रीरामजीने अपनी कृपासे ही दे दी। अन्यथा 'रामजीने मुनि-दुर्लभ गति दे दी' ऐसा कहनेमें कुछ भी सार नहीं रह जाता है। **'अन्ते मतिः सा गतिः।'** (२) मारीच तो जातिका निशाचर, अत्यन्त क्रूर, कपटी, महामायावी, द्विजमांस-भक्षक और यज्ञविध्वंसक था। ऐसा होनेपर अन्त-समय श्रीरामजीका बारम्बार दर्शन और प्राणोत्क्रमणके समय रामस्मरण, भगवान्‌की कृपा बिना असम्भव है। *'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥'* (५। ४४) यह भगवान्‌का विरद यहाँ चरितार्थ हो गया। *'तब ताकिसि रघुनायक सरना'* से उसका सम्मुख होना कह आये हैं। *'रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की॥'* यह सिद्धान्त भी यहाँ *'अंतर प्रेमु तासु पहिचाना।'* में चरितार्थ हो गया।

दोहा—बिपुल सुमन सुर बरषहिं गावहिं प्रभु गुनगाथ।
निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीनबंधु रघुनाथ॥ २७॥

अर्थ—देवता बहुत-से फूल बरसाते हैं और प्रभुके गुणगाथ गा रहे हैं। 'रघुनाथजी ऐसे दीनबन्धु हैं कि उन्होंने असुरको भी अपना निज पद दिया'॥ २७॥

टिप्पणी—१ क्या गुणगाथ गाते हैं? यह उत्तरार्धमें कहते हैं कि *'निज पद''''।'* अर्थात् अधम-उद्धारणादि गुण गाये। 'असुर' गौ, द्विज आदिका भक्षण करनेवाला, मदिरा पीनेवाला, इसको भी हृदयका

प्रेम पहचानकर मुनियोंको भी दुर्लभ-ऐसी मुक्ति दी। प्रेम ऐसा ही पदार्थ है। मारीच अपनी मुक्ति करानेमें असमर्थ था, इसीसे 'दीनबंधु' विशेषण दिया अर्थात् वह दीन था।

टिप्पणी—२ पूर्व मृगको या चर्म लानेके लिये कहते हुए जो विशेषण श्रीसीताजीने दिये थे उनका चरितार्थ इस प्रसङ्गमें यों हुआ—देव—*'तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुर काजु सँवारन॥'* (१) रघुबीर—*'खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा।'* (२) कृपाला—*'निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीनबंधु रघुनाथ।'* (३) सत्यसंध—*'तब तकि राम कठिन सर मारा'*। (४) प्रभु हैं—चर्म लाये। चर्म लानेका प्रमाण लं० ११ में है—*'तापर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥'* पुनः, यथा—*'हेम को हरिन हनि फिरे रघुकुलमनि लषन ललित कर लिये मृगछाल।'* (गी० ३। ९)

प० प० प्र०—कुछ रामायणियों और टीकाकारोंका मत है कि *'तापर रुचिर मृदुल मृगछाला।'* (६। ११। ४) में इसी *'परम रुचिर'* मृगके चर्मका संकेत है, पर मेरी समझमें निम्न कारणोंसे यह अनुमान सयुक्तिक नहीं है—(१) प्राण त्याग करते समय *'परम रुचिर मृग'* ही अन्तर्धान हो गया। उसने तो *'प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा।'* (२) *'मैं कछु करबि ललित नर लीला।'* (२४। १) ये श्रीरामजीके वाक्य हैं। यहाँसे माधुर्यलीलाका ही चरित है। अतः यह मानना कि भगवान्ने अपने ऐश्वर्यसे चर्म पैदा किया प्रकरणार्थसे विरुद्ध होगा। (३) लङ्काकाण्डमें *'परम रुचिर मृगछाल'* नहीं हैं। वहाँ केवल *'रुचिर मृदुल मृगछाल'* लिखा है। *'परम रुचिर'* शब्द भी होते तब भी यह मान लेना कि वह इस *'कपट मृग'* का ही है प्रसंगके विरुद्ध होगा। (४) श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी दोनों रास्तेमें मिलते हैं। अतः रामायणियोंका यह मत कि लक्ष्मणजी चर्मको निकालकर लाये निराधार है। (५) यदि श्रीरामजी ही इस चर्मको लाये होते तो वे विरह-विलापमें इसके लानेका निर्देश अवश्य करते, यह तो विलापका एक विशेष साधन बन जाता। (६) गीतावलीका जो आधार लिया जाता है वह यहाँ संगत नहीं है, क्योंकि वहाँ *'हरिन हनि', 'रघुबर दूरि जाइ मृग मार्यो'* ये शब्द हैं। वहाँ 'मृग' का वध कहा है और मानसमें *'खल बधि तुरत फिरे'* यह शब्द है, यहाँ *'मृग बधि'* नहीं कहते। फिर वहाँ अपनी देह प्रकट करनेका किञ्चित् भी संकेत नहीं है। इतना ही नहीं, वहाँ तो लक्ष्मणजी सीताजीको समझाते हुए कहते हैं *'हत्यो हरिनि।'* गीतावलीमें चर्म लानेका उल्लेख वहाँके पूर्वापर संदर्भसे सुसंगत है, पर मानससे पूर्वापर संदर्भसे यह कल्पना विसंगत है। (७) श्रीलक्ष्मणजीने इसी चर्मको सुवेल-झाँकीके पूर्वतक गुप्त रखा और उस दिन सुवेल पर्वतपर बिछाया—ऐसा माननेपर एक प्रश्न यह होता है कि 'जिस चर्मकी अत्यन्त लालसा श्रीसीताजीको थी वह चर्म अग्निदिव्य (अग्निपरीक्षा) के पश्चात् उन्होंने सीताजीको क्यों नहीं दिया? कनकमय मणिरचित मृगचर्म तो ऐसे अवसरपर उपहार-योग्य पदार्थ था? (८) एक टीकाकारने यह प्रश्न किया है 'यदि इसे कपट मृगका चर्म न मानें तो सुवेलपर बिछा हुआ वह चर्म कहाँसे मिला? मानसमें तो इसका उल्लेख कहीं नहीं है कि श्रीराम-लक्ष्मणजी मृगचर्मका उपयोग करते थे?' इसका उत्तर सुनिये। उल्लेख मानसमें तो है ही पर सावधानीसे देखनेसे ही देख पड़ता है। *'अजिन बसन, फल असन, महि सयन डासि कुस पात'* यह श्रीरामजीकी वनवासचर्याका वर्णन मानसमें ही है। *'मुनिब्रत बेष अहार'* यह था वनवासका नियम। श्रीरामजीने जनकपुरमें परशुरामजीको मुनिवेषमें देखा ही था उस समय परशुरामजीने मृगचर्मको ही प्रावरण किया था। यथा—*'बृषभ कंध उर बाहु बिसाला। चारु जनेउ माल मृगछाला॥' 'कटि मुनि बसन····॥'* (१। २६८। ७-८) (९) इस कथा-भागके वक्ता श्रीकाकभुशुण्डीजी हैं, यह *'भ्रमि कुपंथ पग देत खगेसा'* से स्पष्ट है। यह उस कल्पकी कथाका वर्णन है। और, *'मृग बधि बंधु सहित हरि आए॥'* (१। ४९। ६) (जो बालकाण्डमें कहा है जब श्रीशिवजी और सतीजीने वनमें श्रीरामजीको देखा था।) यह उस कल्पकी कथाका उल्लेख है जिसकी कथा श्रीशिवजीने पीछे श्रीपार्वतीजीसे कही है। इससे यह सिद्ध हो गया कि श्रीरामजी कपटमृगका चर्म नहीं लाये और लक्ष्मणजी लाते कब? वे तो वहाँतक गये भी नहीं जहाँ मारीचका वध हुआ था। जब कल्प-भेदानुसार कथा भेदका अनुसंधान छूट जाता है तब ऐसी बहुतेरी शंकाओंका मानसमें पैदा हो जाना सुलभ है।

(नोट—यह गोस्वामीजीकी काव्यकलाका कौशल है कि उसमें अनेक कल्पोंकी कथाओंके भाव निकल आते हैं।)

मारीच-वध प्रसंग समाप्त हुआ।

खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा। सोह चाप कर कटि तूनीरा॥ १॥
आरत गिरा सुनी जब सीता। कह लछिमन सन परम सभीता॥ २॥
जाहु बेगि संकट अति भ्राता। लछिमन बिहसि कहा सुनु माता॥ ३॥

अर्थ—दुष्ट मारीचको मारकर श्रीरघुवीर तुरत लौटे। उनके हाथोंमें धनुष और कमरमें तर्कस शोभा पा रहे हैं॥ १॥ जब श्रीसीताजीने दुःखभरी वाणी सुनी तब अत्यन्त भयभीत होकर उन्होंने लक्ष्मणजीसे कहा॥ २॥ तुम शीघ्र जाओ, तुम्हारे भाई बड़े संकटमें हैं। लक्ष्मणजीने हँसकर कहा। हे माता! सुनिये॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा'''* ' इति। (क) श्रीरामकृपासे मुक्ति हुई थी, पर वह दुष्ट था, मरण-पर्यन्त उसने छल न छोड़ा, [वाल्मीकिजी कहते हैं कि **'स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वनम्। सदृशं राघवस्येव हा सीते लक्ष्मणेति च॥'** (३। ४४। १९) अर्थात् मारीचने बाण लगकर गिरनेपर विचार किया कि रावणका काम कैसे करूँ कि जिसमें लक्ष्मणजी भी छोड़कर चले आवें। उसी समय ऐसा विचारकर उसने श्रीरामजीके स्वरमें 'हा सीते', 'हा लक्ष्मण' ऐसा कहा। यही दुष्टता है।]; इसीसे वक्तालोग उसे *'खल'* कहते हैं। अधमकी मुक्ति होती है पर उसका कुनाम नहीं जाता। [यहाँ मारीचको मरनेके बाद भी *'खल'* कहा है। इसका कारण यह है कि संसारमें किसीकी कीर्ति या अपकीर्ति उसके बाह्य आचरणानुसार ही होती है। अन्तकालतक मारीचकी कृति खलकी-सी ही थी। अन्तःकरणकी भावना कोई विरला ही जानता है। इसमें यह उपदेश मिलता है कि जैसी भावना हो वैसी कृति और उक्ति भी चाहिये। **'मनस्येकं वचस्येकं कार्यमेकं महात्मनाम्। मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कार्यमन्यद् दुरात्मनाम्॥'** मनमें एक भावना और कृति उससे विलक्षण और वचन इससे भी भिन्न यह दुर्जनोंका स्वभाव है। इससे ही *'खल'* कहा। (प० प० प्र०)] (ख) *'तुरत फिरे'* क्योंकि उसने लक्ष्मणजीका नाम लेकर पुकारा था, इससे चिन्ता है कि आश्रमपर कुछ छल होने ही चाहता है। [यथा—**'हा सीते लक्ष्मणेत्येवमाक्रुश्य तु महास्वनम्। ममार राक्षसः सोऽयं श्रुत्वा सीता कथं भवेत्॥ लक्ष्मणश्च महाबाहुः कामवस्थां गमिष्यति। इति संचिन्त्य धर्मात्मा रामो हृष्टतनूरुहः॥ तत्र रामं भयं तीव्रमाविवेश विषादजम्। राक्षसं मृगरूपं तं हत्वा श्रुत्वा च तत्स्वनम्॥'** (३। ४४। २४—२६) अर्थात् हा सीते! हा लक्ष्मण! जोरसे चिल्लाकर यह मरा है यह सुनकर सीताकी क्या दशा हुई होगी। महाबाहु लक्ष्मण किस अवस्थामें होंगे—यह सोचकर श्रीरामचन्द्रजीके रोंगटे खड़े हो गये। भयभीत होकर रामजी चले।] (ग) खलको मारकर लौटे, अतः 'रघुबीर' कहा। ['रघुबीर' नाम पाँचों प्रकारसे यहाँ चरितार्थ किया है। 'युद्धवीर' हैं, क्योंकि महामायावी अद्वितीय, घोर भयानक राक्षसको एक बाणसे ही मार डाला। 'कृपावीर' हैं क्योंकि *'सुर काज सँवारन'* (देवोंपर दया करनेके लिये ही) उन्होंने यह चरित किया। मारीचको 'निर्वाण' दिया, *'निजपद दीन्ह असुर कहुँ'* यह दानवीरता है। 'विद्यावीर' का प्रमाण, यथा-*'तब रघुपति जानत सब कारन', 'अंतर प्रेम तासु पहिचाना।''''''सुजाना'*। 'धर्मवीर' क्योंकि धर्मयुद्ध करके और धर्म-संस्थापनाके लिये ही राक्षस मारीचको मारा, अतः 'रघुवीर' कहा।] (घ) *'सोह चाप कर कटि तूनीरा'*—धनुष-बाण-तर्कसकी शोभा अब हुई जब खलको मारकर लौटे। अतः *'सोह'* कहा।

टिप्पणी—२ *'आरत गिरा सुनी जब सीता''''''* ' इति (क) *'आरत गिरा'* अर्थात् *'त्राहि त्राहि लक्ष्मण'* यथा—*'आतुर सभय गहेसि पग जाई। त्राहि त्राहि दयालु रघुराई॥'''सुनि कृपालु अति आरत बानी', 'प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि त्राहि अब मोहि। आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो तोहि॥'* (६। २०) [**'त्राहि लक्ष्मण मां द्रुतम्॥'** (अ० रा० ३। ७। १८) यह वाक्य मारीचके (श्रीरामजीके स्वरमें) हैं। आर्त-शब्द वाल्मीकीयमें भी है। श्रीसीताजी कह रही हैं कि शरण चाहनेवाले तथा रक्षाके लिये पुकार करनेवाले अपने भाईकी रक्षा करो। जिस प्रकार गाय और बैल सिंहके पंजेमें आ जाते हैं वैसे ही तुम्हारे भाई राक्षसोंके पंजेमें